

Chapter आठ अध्याय

महारानी कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा

सूत उवाच

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।

दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; अथ—इस प्रकार; ते—पाण्डवजन; सम्परेतानाम्—मृतकों का; स्वानाम्—स्वजनों का; उदकम्—जल; इच्छताम्—पाने की इच्छा से; दातुम्—देने के लिए; स-कृष्णाः—द्रौपदी के सहित; गङ्गायाम्—गंगा के तट पर; पुरस्कृत्य—आगे करके; ययुः—गईं; स्त्रियः—स्त्रियाँ ।

सूत गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात्, पाण्डवगण अपने मृत परिजनों की इच्छानुसार उन्हें जल-दान देने हेतु द्रौपदी सहित गंगा के तट पर गये। स्त्रियाँ आगे-आगे चल रही थीं।

तात्पर्य : आज तक हिन्दू-समाज में यह प्रथा चल रही है कि जब किसी परिवार में कोई व्यक्ति का निधन होता है, तो लोग गंगा नदी में या किसी अन्य पवित्र नदी में स्नान करते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य दिवंगत आत्मा को एक लोटा गंगाजल अर्पण करता है और स्त्रियों को आगे करके सभी लोग एक जुलूस में चलते हैं। पांडवों ने भी पाँच हजार वर्ष पूर्व इन्हीं नियमों का पालन किया था। पाण्डवों के ममेरे भाई होने के कारण भी भगवान् कृष्ण पारिवारिक सदस्यों में से एक थे।

ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।

आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ते—वे सब; निनीय—अर्पित करके; उदकम्—जल; सर्वे—सभी; विलप्य—विलाप करके; च—तथा; भृशम्—पर्याप्त; पुनः—फिर; आप्लुताः—स्नान किया; हरि-पादाब्ज—भगवान् के चरणकमल की; रजः—धूलि से; पूत—पवित्र; सरित्—गंगा नदी के; जले—जल में।

उनके लिए शोक कर चुकने तथा पर्याप्त गंगाजल अर्पित कर चुकने के बाद उन सबों ने गंगा में स्नान किया, जिसका जल भगवान् के चरणकमलों की धूलि मिल जाने के कारण पवित्र हो गया है।

तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् ।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; आसीनम्—बैठे हुए; कुरु-पतिम्—कुरुओं के राजा; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र को; सह-अनुजम्—अपने भाइयों सहित; गान्धारीम्—गांधारी को; पुत्र—बेटे के; शोक-अर्ताम्—शोक से पीड़ित; पृथाम्—कुन्ती को; कृष्णाम्—द्रौपदी को; च—भी; माधवः—भगवान् श्रीकृष्ण ने।

वहीं कुरुवंशियों के राजा महाराज युधिष्ठिर अपने छोटे भाइयों, धृतराष्ट्र, गांधारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सहित बैठ गये। वे सभी शोक से अत्यधिक पीड़ित थे। भगवान् कृष्ण भी वहाँ थे।

तात्पर्य : चूँकि कुरुक्षेत्र का युद्ध पारिवारिक सदस्यों के बीच ही हुआ था, अतएव इससे जो लोग प्रभावित हुए थे, वे सभी पारिवारिक सदस्य ही थे—यथा महाराज युधिष्ठिर तथा उनके भाई, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, धृतराष्ट्र, गांधारी तथा उनकी बहुएँ इत्यादि। सारे मृत व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से नातेदार थे, अतएव पारिवारिक शोक संयुक्त रूप में था। भगवान् कृष्ण भी पाण्डवों के ममेरे भाई थे और कुन्ती के भांजे तथा सुभद्रा के भाई थे। अतएव भगवान् की उन सबों के प्रति समान सहानुभूति थी। इसलिए वे समयानुकूल उन सबों को सान्त्वना देने लगे।

सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्शुचार्पितान् ।
भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्न प्रतिक्रियाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सान्त्वयाम् आस—ढाढस बँधाया; मुनिभिः—वहाँ पर उपस्थित मुनियों समेत; हत-बन्धून्—जिनके मित्र तथा सम्बन्धी मारे गये थे; शुचार्पितान्—सभी को धक्का पहुँचा हुआ; भूतेषु—जीवों पर; कालस्य—सर्वशक्तिमान के परम नियम की; गतिम्—प्रतिक्रिया; दर्शयन्—दिखलाया; न—नहीं; प्रतिक्रियाम्—उपचार।

सर्वशक्तिमान के कठोर नियमों तथा जीवों पर उनकी प्रतिक्रियाओं का दृष्टान्त देते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण तथा सारे मुनियों ने समस्त स्तब्ध एवं शोकार्त-जनों को ढाढ़स बँधाया।

तात्पर्य : परमेश्वर के आदेशों के अधीन प्रकृति के कठोर नियम किसी जीव के द्वारा बदले नहीं जा सकते। सारे जीव निरन्तर सर्वशक्तिमान भगवान् के अधीन रहते हैं। भगवान् ही सारे नियम तथा आदेश बनाते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से धर्म कहते हैं। कोई भी व्यक्ति धार्मिक नियम नहीं बना सकता। भगवान् के आदेशों का पालन करना ही प्रामाणिक धर्म है। भगवान् के ये आदेश भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से घोषित किये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल उनका या उनके नियमों का अनुसरण करे। इससे वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार से सुखी हो सकेगा। जब तक हम इस भौतिक जगत में हैं, तब तक हमारा यह कर्तव्य है कि हम भगवान् के आदेशों का पालन करें और यदि भगवत्कृपा से हम इस भौतिक संसार के बन्धन से छूट जाँय, तो भी अपनी मुक्त अवस्था में हम भगवान् की प्रेमामय दिव्य सेवा कर सकते हैं। अपनी भौतिक अवस्था में आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव में हम न तो अपने आप को देख पाते हैं, न ही भगवान् को। लेकिन जब हम भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर अपने मूल आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त करते हैं, तो हम अपने आपको तथा भगवान् को साक्षात् देख सकते हैं। अतएव मुक्ति का अर्थ है, जीवन की भौतिक अवधारणा को त्याग कर मूल आध्यात्मिक स्थिति को पुनः धारण करना। इस तरह यह मनुष्य-जीवन विषेश रूप से अपने आपको इसी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के योग्य बनाने के निमित्त है। दुर्भाग्यवश, हम भ्रामक भौतिक शक्ति के वश में होकर कुछ वर्षों के इस क्षणिक जीवन को ही स्थायी मान बैठते हैं और इस तरह से माया द्वारा उत्पन्न छद्म स्वरूप वाले तथाकथित देश, घर, भूमि, सन्तान, पत्नी, समुदाय, सम्पत्ति आदि के स्वामित्व से भ्रमित हो जाते हैं। इस तरह, हम माया के इशारे पर इस छद्म स्वामित्व की रक्षा के लिए एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा हम यह अनुभव कर सकते हैं कि हमें इस भौतिक साज-सामान से कुछ भी लेना-देना नहीं है। ऐसा होने पर हम तुरन्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं। इस संसार की भ्रान्तियों का ऐसा स्पष्टीकरण भगवद्भक्तों की संगति

से तुरन्त ही होता है, क्योंकि वे मोहग्रस्त हृदय के भीतर दिव्य ध्वनि को प्रविष्ट कराने में सक्षम होते हैं और इस तरह से मनुष्य को समस्त शोक तथा मोह से मुक्त कराने वाले हैं। संक्षेप में यह उन लोगों के लिए सान्त्वना है, जो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि आदि के रूप में प्रकट होनेवाले कठोर भौतिक नियमों के फलों से प्रभावित होते हैं। युद्ध से पीड़ित कुरुवंश के सदस्य मृत्यु की समस्या से शोकातुर थे और भगवान् ने उनको ज्ञान के आधार पर ढाढ़स बँधाया।

साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हतम् ।

घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

साधयित्वा—सम्पन्न करके; अजात-शत्रोः—जिसके कोई शत्रु न हो, उसका; स्वम् राज्यम्—अपना राज्य; कितवैः—धूर्तों के द्वारा (दुर्योधन तथा उसका दल); हतम्—छीना गया; घातयित्वा—वध कराकर; असतः—दुष्ट; राज्ञः—रानी के; कच—केशों का गुच्छा; स्पर्श—छूने से; क्षत—घटी हुई; आयुषः—आयु द्वारा।

धूर्त दुर्योधन तथा उसके दल ने छल करके अजातशत्रु युधिष्ठिर का राज्य छीन लिया था। भगवत्कृपा से वह फिर प्राप्त हो गया और जिन दुष्ट राजाओं ने दुर्योधन का साथ दिया था, वे सब भगवान् के द्वारा मार डाले गये। अन्य लोग भी मारे गये, क्योंकि महारानी द्रौपदी के केशों को पकड़कर खींचने से उनकी आयु क्षीण हो चुकी थी।

तात्पर्य : गौरवपूर्ण दिनों में या कलियुग के आगमन के पूर्व ब्राह्मण, गाय, स्त्री, बालक तथा वृद्ध पुरुषों की समुचित रक्षा की जाती थी।

१. ब्राह्मणों की रक्षा से आध्यात्मिक जीवन-प्राप्ति के लिए नितान्त वैज्ञानिक संस्कृति, वर्णाश्रम-व्यवस्था का पालन होता है।

२. गायों की रक्षा से भोजन का चमत्कारी रूप अर्थात् जीवन के उच्चादर्शों को समझने के लिए मस्तिष्क के सूक्ष्म तंतुओं को बनाये रखनेवाला दूध मिलता रहता है।

३. स्त्रियों की रक्षा से समाज की शुचिता बनी रहती है, जिससे हमें शान्ति, सुस्थिरता तथा जीवन की उन्नति के लिए अच्छी सन्तति मिलती है।

४. बच्चों की रक्षा से मनुष्य-जीवन को वह सुनहरा अवसर प्राप्त होता है, जिससे भव-बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। बालकों की ऐसी रक्षा उसके जन्म के दिन से ही गर्भाधान-संस्कार नामक शुद्धिकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्रारम्भ हो जाती है।

५. वृद्धों की रक्षा से उन्हें मृत्यु के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की तैयारी करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

यह पूरा दृष्टिकोण ऐसे कारकों पर आधारित है, जिनसे सफल मनुष्यता प्राप्त होती है। इसके विपरीत, सजावटी कुत्तों तथा बिल्लियों की सभ्यता है। उपर्युक्त निर्दोष प्राणियों का वध सर्वथा वर्जित है, क्योंकि यदि उनका अपमान भी किया जाय, तो आयु क्षीण होती है। कलियुग में इन जीवों की समुचित सुरक्षा नहीं हो पाती, अतएव वर्तमान पीढ़ी की आयु काफी घट गई है। भगवद्गीता में कहा गया है कि जब समुचित सुरक्षा के अभाव में स्त्रियाँ कुलटा हो जाती हैं, तब उनसे अवांछित सन्तान उत्पन्न होती है, जिसे वर्णसंकर कहते हैं। सती स्त्री का अपमान करने का अर्थ है, अपनी आयु को खतरे में डालना। दुर्योधन के भाई दुस्शासन ने आदर्श सती नारी द्रौपदी का अपमान किया था, अतएव उन दुष्टों को असमय मरना पड़ा। ये हैं भगवान् के कुछ कठोर नियम, जिनका ऊपर वर्णन हुआ है।

याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।

तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

याजयित्वा—सम्पन्न करके; अश्वमेधैः—अश्वमेध यज्ञों के द्वारा, जिनमें घोड़े की बलि दी जाती है; तम्—उनको (राजा युधिष्ठिर को); त्रिभिः—तीन; उत्तम—सर्वश्रेष्ठ; कल्पकैः—समुचित सामग्रियों के द्वारा तथा योग्य पुरोहितों द्वारा सम्पन्न; तत्—वह; यशः—ख्याति; पावनम्—यशस्वी; दिक्षु—समस्त दिशाएँ; शत-मन्योः—इन्द्र, जिसने ऐसे एक सौ यज्ञ किये थे; इव—सदृश; अतनोत्—फैल गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से तीन श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराये और इस तरह उनकी पवित्र ख्याति सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्र की तरह ही सर्व दिशाओं में फैल गई।

तात्पर्य : यह महाराज युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किये जाने की भूमिका जैसी है। स्वर्ग के राजा इन्द्र के साथ महाराज युधिष्ठिर की तुलना महत्त्वपूर्ण है। स्वर्ग का राजा अपने ऐश्वर्य

में महाराज युधिष्ठिर की अपेक्षा हजारों गुना बढ़कर है, तो भी महाराज युधिष्ठिर की ख्याति कम न थी। इसका कारण यह है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् के शुद्ध भक्त थे और भगवत्कृपा से ही वे स्वर्ग के राजा इन्द्र के तुल्य थे, यद्यपि उन्होंने केवल तीन यज्ञ सम्पन्न किये थे, जबकि स्वर्ग के राजा ने पूरे सौ यज्ञ किये थे। यह भगवद्भक्त का विशेषाधिकार है। भगवान् सबों पर समभाव रखते हैं, लेकिन भगवद्भक्त अधिक महिमावान् होता है, क्योंकि वह सदैव महानतम के सम्पर्क में रहता है। सूर्य की किरणें समान रूप से विपरीत होती हैं, तो भी कुछ ऐसे स्थान रह जाते हैं जहाँ सदैव अँधेरा रहता है। यह सूर्य के कारण नहीं है, अपितु ग्राह्यता की कमी के कारण है। इसी प्रकार जो भगवान् के शत-प्रतिशत भक्त हैं, उन्हें भगवान् की पूर्ण कृपा प्राप्त होती है, यद्यपि जो सर्वत्र सदैव समान रूप से वितरित होती है।

आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।

द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—विदाई लेकर; पाण्डु-पुत्रान्—पाण्डु के समस्त पुत्रों से; च—भी; शैनेय—सात्यकि; उद्धव—उद्धव;
संयुतः—समेत; द्वैपायन-आदिभिः—व्यासदेव जैसे ऋषियों के द्वारा; विप्रैः—ब्राह्मणों के द्वारा; पूजितैः—पूजित होकर;
प्रतिपूजितः—भगवान् ने भी समान रूप से आदानप्रदान किया।

फिर भगवान् श्रीकृष्ण ने सात्यकि तथा उद्धव के साथ प्रस्थान के लिए तैयारी की।

उन्होंने श्रील व्यासदेव आदि ब्राह्मणों से पूजित होने के बाद पाण्डु-पुत्रों को आमन्त्रित किया। भगवान् ने सभी का समुचित अभिवादन किया।

तात्पर्य : क्षत्रिय होने के कारण श्रीकृष्ण ब्राह्मणों द्वारा पूजनीय नहीं थे, लेकिन वहाँ पर उपस्थित श्रील व्यासदेव आदि सारे ब्राह्मण उन्हें भगवान् के रूप में मानते थे, अतएव इन सबों ने उनकी पूजा की। भगवान् ने इस सामाजिक व्यवस्था के सम्मानार्थ अमिवादन किया कि क्षत्रिय को ब्राह्मणों के आदेशों के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए। यद्यपि श्रीकृष्ण को सदैव सभी ओर से परमेश्वर को मिलनेवाला सम्मान प्राप्त होता रहता था, लेकिन भगवान् कभी भी समाज के चारों

आश्रमों की प्रथाओं से रंच मात्र भी विचलित नहीं होते थे। भगवान् ने प्रयोजनवश इन सामाजिक प्रथाओं को सम्पन्न किया, जिससे भविष्य में अन्य लोग उनका अनुसरण करते रहें।

गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः ।
उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गन्तुम्—जाने के लिये इच्छुक; कृतमतिः—संकल्प करके; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; द्वारकाम्—द्वारका की ओर; रथम्—रथ पर; आस्थितः—आरूढ़; उपलेभे—देखा; अभिधावन्तीम्—तेजी से आती हुई; उत्तराम्—उत्तरा को; भय-विह्वलाम्—भयभीत।

ज्योंही वे द्वारका प्रस्थान् के लिये रथ पर सवार हुए, त्योंही उन्होंने भयभीत उत्तरा को तेजी से उनकी ओर आते हुए देखा।

तात्पर्य : पाण्डव-कुल के सारे सदस्य अपनी रक्षा के लिये भगवान् पर आश्रित थे, अतएव भगवान् समस्त परिस्थितियों में उनकी रक्षा करते थे। वैसे तो, भगवान् सबों की रक्षा करते हैं, किन्तु जो लोग उन पर पूर्णरूपेण निर्भर रहते हैं, वे उनकी विशेष रखवाली करते हैं। पिता अपने नन्हें पुत्र के प्रति विशेष सतर्क रहता है, क्योंकि वह पिता पर पूर्णतः आश्रित होता है।

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

उत्तरा उवाच—उत्तरा ने कहा; पाहि पाहि—रक्षा करें, रक्षा करें; महा-योगिन्—सर्वोच्च योगी; देव-देव—पूज्यों के भी पूज्य; जगत्-पते—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; न—नहीं; अन्यम्—दूसरा; त्वत्—आपके अतिरिक्त; अभयम्—भय से रहित होने का भाव; पश्ये—देखती हूँ; यत्र—जहाँ; मृत्युः—मृत्यु; परस्परम्—द्वैत जगत में।

उत्तरा ने कहा : हे देवाधिदेव, हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, आप सबसे महान् योगी हैं। कृपया मेरी रक्षा करें, क्योंकि इस द्वैतपूर्ण जगत में मुझे मृत्यु के पाश से बचानेवाला आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत द्वैतपूर्ण है, जबकि परम धाम एकरूप है। द्वैतपूर्ण जगत् पदार्थ तथा आत्मा से निर्मित है जबकि परम जगत पूर्ण रूप से आत्मा है, जिसमें भौतिक गुणों का लेश भी नहीं पाया जाता। इस द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति झूठे ही जगत का स्वामी बनने का प्रयास करता है, जबकि परम जगत में भगवान् ही परम प्रधान हैं और अन्य सभी उनके अनन्य सेवक हैं। द्वैतपूर्ण जगत में प्रत्येक व्यक्ति अन्य सबों से ईर्ष्या करता है और पदार्थ तथा आत्मा के द्वैत अस्तित्व के कारण मृत्यु अपरिहार्य है। शरणागत जीव के लिये भगवान् ही एकमात्र अभयदाता हैं। भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण किये बिना कोई भी इस भौतिक जगत में अपने आप को मृत्यु के क्रूर पंजे से नहीं बचा सकता।

अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो ।

कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अभिद्रवति—ओर आता हुआ; माम्—मेरी; ईश—हे प्रभु; शरः—बाण; तप्त—अग्नितुल्य; अयसः—लोह; विभो—हे महान्; कामम्—इच्छा; दहतु—जला दे; माम्—मुझको; नाथ—हे रक्षक; मा—मत; मे—मेरा; गर्भः—गर्भ; निपात्यताम्—गर्भपात हो।

हे प्रभु, आप सर्वशक्तिमान हैं। एक दहकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर तेजी से आ रहा है। मेरे प्रभु, यदि आपकी इच्छा हो तो यह मुझे भले ही जला दे, लेकिन यह मेरे गर्भ को जलाकर गर्भपात न करे। हे प्रभु, कृपया मेरे पर इतना अनुग्रह करें।

तात्पर्य : यह घटना उत्तरा के पति, अभिमन्यु की मृत्यु के बाद की है। अभिमन्यु की विधवा पत्नी उत्तरा अपने पति का अनुसरण करती, लेकिन वह गर्भिणी थी और परम भगवद्भक्त महाराज परीक्षित उसके गर्भ में थे, अतएव उनकी रक्षा करना उसका परम धर्म था। माता के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है कि वह शिशु की सभी तरह से रक्षा करे, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी बात कहने में उत्तरा लजायी नहीं। उत्तरा एक महान राजा की पुत्री, एक महान् वीर की पत्नी और एक महान भक्त की शिष्या थी। बाद में वह एक श्रेष्ठ राजा की माँ भी बनी। वह सभी प्रकार से भाग्यशालिनी थी।

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।

अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेस्त्रमबुध्यत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; उपधार्य—धैर्यपूर्वक सुनकर; वचः—शब्द; तस्याः—उसके; भगवान्—भगवान् ने; भक्त-वत्सलः—अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त प्रेम से युक्त; अपाण्डवम्—पाण्डवों के वंशज के विना; इदम्—यह; कर्तुम्—इसे करने के लिये; द्रौणः—द्रोणाचार्य के पुत्र का; अस्त्रम्—हथियार; अबुध्यत—समझा ।

सूत गोस्वामी ने कहा : उसके वचनों को धीरज के साथ सुनकर, अपने भक्तों के प्रति सदैव अत्यन्त वत्सल रहनेवाले, भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त समझ गये कि द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डव-वंश के अन्तिम वंशज को समाप्त करने (निर्बीज करने) के लिये ही ब्रह्मास्त्र छोड़ा है ।

तात्पर्य : भगवान् सभी तरह से निष्पक्ष हैं, तो भी वे अपने भक्तों का पक्ष लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिये इसकी नितान्त आवश्यकता है । पाण्डव-कुल भक्तकुल था, अतएव भगवान् चाहते थे कि वे विश्व के ऊपर शासन चलाएँ । यही कारण था कि दुर्योधन-दल के शासन को समाप्त करके उन्होंने महाराज युधिष्ठिर का शासन स्थापित किया । इसीलिये वे गर्भ में स्थित महाराज परीक्षित की रक्षा करना चाह रहे थे । वे नहीं चाहते थे कि संसार पाण्डव-कुल से विहीन हो जाय, जो भक्तों का आदर्श कुल था ।

तर्ह्निवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।

आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तर्हि—तब; एव—भी; अथ—अतएव; मुनि-श्रेष्ठ—हे मुनियों में प्रमुख; पाण्डवाः—पाण्डु के पुत्र; पञ्च—पाँच; सायकान्—हथियार; आत्मनः—स्वयं; अभिमुखान्—की ओर; दीप्तान्—लपलपाते; आलक्ष्य—देखकर; अस्त्राणि—हथियार; उपाददुः—ग्रहण किया ।

हे महान् विचारकों (मुनियों) में अग्रणी (शौनक जी), उस दहकते हुए ब्रह्मास्त्र को अपनी ओर आते देखकर पाँचों पाण्डवों ने अपने-अपने पाँचों हथियार सँभाले ।

तात्पर्य : ब्रह्मास्त्र परमाणु हथियारों से भी सूक्ष्म होता है। अश्वत्थामा ने महाराज युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों को तथा उत्तरा के गर्भ में स्थित उनके एकमात्र पौत्र को मारने के लिये अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। अतएव यह ब्रह्मास्त्र, जो परमाणु हथियार की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली तथा सूक्ष्मतर होता है, परमाणु बमों की भाँति अंधा नहीं था। जब परमाणु बम छोड़े जाते हैं, तो वे लक्ष्य तथा अन्य वस्तुओं में अन्तर नहीं कर पाते। ये बम मुख्य रूप से निर्दोषों को हानि पहुँचाते हैं, क्योंकि इन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। लेकिन ब्रह्मास्त्र ऐसा नहीं होता। यह लक्ष्य को पहचानता है और निर्दोष को क्षति पहुँचाये बिना आगे बढ़ता है।

व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।

सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

व्यसनम्—महान संकट को; वीक्ष्य—देखकर; तत्—उस; तेषाम्—उनका; अनन्य—दूसरा नहीं; विषय—साधन; आत्मनाम्—इस प्रकार प्रवृत्त; सुदर्शनेन—कृष्ण के चक्र द्वारा; स्व-अस्त्रेण—हथियार से; स्वानाम्—अपने भक्तों की; रक्षाम्—सुरक्षा; व्यधात्—की; विभुः—सर्वशक्तिमान ने।

सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि उनके अनन्य भक्तों पर, जो पूर्ण रूप से उनके शरणागत थे, महान् संकट आनेवाला है, उनकी रक्षा के लिए तुरन्त ही अपना सुदर्शन चक्र उठा लिया।

तात्पर्य : अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र परमाणु अस्त्र के समान तो था, लेकिन उसमें तेज तथा उष्मा अधिक थी। यह ब्रह्मास्त्र अधिक सूक्ष्म विज्ञान की देन है, जो सूक्ष्म ध्वनि अर्थात् वेदों में अंकित एक मन्त्र का प्रतिफल है। इस अस्त्र का दूसरा गुण यह है कि यह परमाणु बम के समान अन्धा नहीं होता, क्योंकि अन्य किसी पर क्षति के बिना केवल लक्ष्य पर ही इसका संधान किया जा सकता है। अश्वत्थामा ने इसे पाण्डु-कुल के समस्त पुरुष-व्यक्तियों को समाप्त करने के लिए छोड़ा था, अतएव एक तरह से यह परमाणु बमों से अधिक घातक था, क्योंकि यह सर्वाधिक सुरक्षित स्थान में भी प्रवेश कर सकता था और लक्ष्य को कभी नहीं चूकता था। यह सब जानते हुए, भगवान् श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए अपना निजी

अस्त्र उठा लिया, क्योंकि ये भक्त कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे। *भगवद्गीता* में भगवान् ने स्पष्ट रूप से वचन दिया है कि उनके भक्त कभी विनष्ट नहीं होते। वे भक्तों द्वारा की गई भक्तिमय सेवा की मात्रा या गुण के आधार पर कार्यवाही करते हैं। यहाँ पर *अनन्य-विषयात्मनाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। पाण्डवगण स्वयं महान योद्धा होते हुए भी भगवान् के संरक्षण पर शत-प्रतिशत आश्रित थे। लेकिन भगवान् हैं कि बड़े-से-बड़े योद्धाओं की उपेक्षा करके क्षण भर में उनका विनाश कर देते हैं। जब उन्होंने देखा कि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र को काटने के लिए पाण्डवों के पास बिल्कुल समय नहीं रह गया, तो उन्होंने अपने ही प्रण को भी तोड़ते हुए, तुरन्त अपना अस्त्र उठा लिया। यद्यपि कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त-प्राय था, तो भी अपने प्रण के अनुसार, उन्हें अपना अस्त्र नहीं उठाना चाहिए था। लेकिन इस समय तो प्रण की अपेक्षा आपात्काल अधिक महत्त्वपूर्ण था। वे *भक्त-वत्सल* के रूप में अधिक सुविदित हैं, अतएव वे ऐसे सांसारिक आदर्शवादी नहीं बनना चाहते, जो कभी अपना प्रण नहीं तोड़ते, अपितु उन्होंने *भक्त-वत्सल* बने रहना अधिक पसन्द किया।

अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः ।

स्वमाययावृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अन्तःस्थः—अन्तर में रहते हुए; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; आत्मा—आत्मा; योग-ईश्वरः—समस्त योग के स्वामी; हरिः—परमेश्वर; स्व-मायया—अपनी निजी शक्ति से; आवृणोत्—आच्छादित कर लिया; गर्भम्—भ्रूण को; वैराट्याः—उत्तरा के; कुरु-तन्तवे—महाराज कुरु की वंशवृद्धि के लिए।

परम योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा के रूप में निवास करते हैं।

अतएव, कुरु-वंश की संतति की रक्षा करने के लिए उन्होंने उत्तरा के गर्भ को अपनी निजी शक्ति से आवृत कर लिया।

तात्पर्य : परम योगी भगवान्, परमात्मा-स्वरूप में अर्थात् अपने पूर्ण अंश के रूप में एक ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अथवा परमाणुओं के भीतर भी निवास कर सकते हैं। अतएव, उन्होंने महाराज परीक्षित को बचाने के लिए तथा महाराज कुरु के वंश की रक्षा करने के लिए

उत्तरा के गर्भ को आच्छादित कर दिया। महाराज पाण्डु भी कुरु के ही वंशज थे। इस प्रकार धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों के ही पुत्र महाराज कुरु के वंशज थे, अतएव दोनों ही सामान्य रूप से कुरु कहलाते थे। लेकिन जब इन दोनों परिवारों में मनोमालिन्य हो गया, तो धृतराष्ट्र के पुत्र कुरु कहलाने लगे और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाने लगे। चूँकि कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृतराष्ट्र के सारे पुत्र तथा पौत्र मारे जा चुके थे, अतएव इस वंश का अन्तिम पुत्र कुरु-पुत्र के नाम से अभिहित किया गया है।

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम् ।

वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्धह ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; अस्त्रम्—अस्त्र; ब्रह्म-शिरः—परम, सर्वश्रेष्ठ; तु—लेकिन; अमोघम्—बिना रोक-टोक के; च—तथा; अप्रतिक्रियम्—जिसका निवारण न किया जा सके; वैष्णवम्—विष्णु से सम्बन्धित; तेजः—बल; आसाद्य—सामने आने पर; समशाम्यत्—शान्त पड़ गया; भृगु-उद्धह—हे भृगु-वंशकी शान।

हे शौनक, यद्यपि अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया परम ब्रह्मास्त्र अमोघ था और उसका निवारण नहीं हो सकता था, लेकिन विष्णु (श्रीकृष्ण) के तेज के समक्ष वह निष्क्रिय हो गया और व्यर्थ हो गया।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि दिव्य जाज्वल्यमान प्रभा ब्रह्मज्योति भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म-तेज भगवान् की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जिस प्रकार कि सूर्य-किरणें सूर्य के गोले से ही निकली किरणें हैं। अतएव यह ब्रह्मास्त्र भी, यद्यपि भौतिक रूप से अमोघ था, किन्तु भगवान् के परम तेज से पार नहीं पा सका। अश्वत्थामा द्वारा छोड़ा गया ब्रह्मास्त्र श्रीकृष्ण द्वारा अपनी शक्ति के बल पर, निष्क्रिय एवं व्यर्थ कर दिया गया, अर्थात् उन्हें किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ी, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं।

मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते ।

य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; मंस्था:—सोचो; हि—निश्चय ही; एतत्—ये सब; आश्चर्यम्—आश्चर्यजनक; सर्व—समस्त; आश्चर्य-मये—परम आश्चर्ययुक्त; अच्युते—अच्युत में; य:—जो; इदम्—यह (सृष्टि); मायया—उनकी शक्ति द्वारा; देव्या—दिव्य; सृजति—उत्पन्न करता है; अवति—पालन करता है; हन्ति—संहार करता है; अज:—अजन्मा।

हे ब्राह्मणों, इसे गुह्य तथा अच्युत भगवान् के कार्य-कलापों में विशेष आश्चर्यजनक मत सोचो। वे अपनी दिव्य शक्ति से समस्त भौतिक वस्तुओं का सृजन, पालन तथा संहार करते हैं यद्यपि वे स्वयं अजन्मा हैं।

तात्पर्य : जीवों के नन्हें मस्तिष्क के लिए भगवान् के कार्यकलाप सदैव अकल्पनीय होते हैं। परमेश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, लेकिन उनके सारे कार्य हमारे लिए आश्चर्यजनक लगते हैं, और इस प्रकार वे सदा हमारी विचारशक्ति की सीमा से परे बने रहते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान तथा पूर्ण परमेश्वर हैं। भगवान् शत-प्रतिशत पूर्ण हैं, जबकि दूसरे अर्थात् नारायण, ब्रह्मा, शिव, देवतागण तथा अन्य सारे जीवों में ऐसी पूर्णता का कुछ प्रतिशत ही पाया जाता है। कोई भी न तो उनके तुल्य है, न उनसे बड़ा। वे अद्वितीय हैं।

ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया ।

प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-तेजः—ब्रह्मास्त्र का विकिरण; विनिर्मुक्तैः—से बचकर; आत्म-जैः—अपने पुत्रों; सह—समेत; कृष्णया—द्रौपदी के; प्रयाण—जाते हुए; अभिमुखम्—ओर; कृष्णम्—भगवान् कृष्ण को; इदम्—यह; आह—कहा; पृथा—कुन्ती ने; सती—भगवान् की भक्त, सती।

इस प्रकार ब्रह्मास्त्र के विकिरण से बचकर भगवान् की भक्त सती कुन्ती ने अपने पाँच पुत्रों तथा द्रौपदी-सहित, घर के लिए प्रस्थान करने को उद्यत श्रीकृष्ण को इस तरह सम्बोधित किया।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति के कारण कुन्ती को यहाँ पर सती कहा गया है। अब उसके मन को आगे दी हुई भगवान् की स्तुति में व्यक्त किया जायेगा। भगवान् का सच्चा भक्त कभी अन्य किसी से, यहाँ तक कि संकट से उबारने के लिए भी, किसी जीव या देवता से दया की भीख नहीं माँगता। यही विशेषता लगातार सारे पाण्डव-कुल में बनी रही। वे कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते थे, अतएव भगवान् भी सभी परिस्थितियों में उनकी हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत रहते थे। यह भगवान् का दिव्य स्वभाव है। वे भक्त की निर्भरता को पुरस्कृत करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपूर्ण जीवों या देवताओं से सहायता की याचना न करे, अपितु भगवान् कृष्ण से याचना करे, क्योंकि वे अपने भक्तों को बचाने में सक्षम हैं। ऐसा सच्चा भक्त भी भगवान् से सहायता कभी नहीं माँगता, किन्तु भगवान् अपनी खुद की इच्छा से ऐसा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।

अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कुन्ती उवाच—श्रीमती कुन्ती ने कहा; नमस्ये—मेरा नमस्कार है; पुरुषम्—परम पुरुष को; त्वा—आप; आद्यम्—मूल; ईश्वरम्—नियन्ता; प्रकृतेः—भौतिक ब्रह्माण्डों के; परम्—परे; अलक्ष्यम्—अदृश्य; सर्व—समस्त; भूतानाम्—जीवों के; अन्तः—भीतर; बहिः—बाहर; अवस्थितम्—स्थित।

श्रीमती कुन्ती ने कहा : हे कृष्ण, मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि आप ही आदि पुरुष हैं और इस भौतिक जगत के गुणों से निर्लिप्त रहते हैं। आप समस्त वस्तुओं के भीतर तथा बाहर स्थित रहते हुए भी सबों के लिए अदृश्य हैं।

तात्पर्य : श्रीमती कुन्ती देवी को भलीभाँति ज्ञात था कि कृष्ण आदि भगवान् हैं, भले ही वे उनके भतीजे लगते थे। ऐसी प्रबुद्ध महिला अपने भतीजे को नमस्कार करने की गलती नहीं कर सकती थी। अतएव, उन्होंने उन्हें आदि पुरुष के रूप में सम्बोधित किया, जो भौतिक जगत से परे हैं। यद्यपि सारे जीव भी दिव्य हैं, लेकिन वे न तो आदि हैं, न अच्युत। जीव भौतिक प्रकृति के चंगुल में पड़कर नीचे गिर सकते हैं, लेकिन भगवान् कभी भी ऐसे नहीं हैं। अतएव वेदों में उन्हें समस्त जीवों में प्रधान कहा गया है। (*नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्*)। तब उन्होंने उन्हें पुनः ईश्वर या नियन्ता के रूप में सम्बोधित किया। जीव, या चन्द्र तथा सूर्य जैसे देवता भी कुछ हद तक ईश्वर हैं, लेकिन इनमें से कोई भी परमेश्वर अथवा परम नियन्ता नहीं है। वे ही परमेश्वर या

परमात्मा हैं। वे अन्तः तथा बाह्य दोनों में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि वे श्रीमती कुन्ती के समक्ष उनके भतीजे के रूप में उपस्थित थे, लेकिन वे उनके तथा अन्य सबों के अन्तर में भी विद्यमान थे। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भगवान् कहते हैं, “मैं प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से उसमें स्मृति, विस्मृति, ज्ञान इत्यादि हैं। समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ, क्योंकि मैं वेदों का संकलनकर्ता तथा वेदान्त को पढ़ाने वाला हूँ।” रानी कुन्ती पुष्टि करती हैं कि यद्यपि भगवान् समस्त जीवों के भीतर तथा बाहर हैं, तो भी वे अदृश्य हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् सामान्य व्यक्ति के लिए पहली-तुल्य हैं। महारानी कुन्ती ने साक्षात् अनुभव किया कि भगवान् कृष्ण उनके समक्ष उपस्थित हैं, फिर भी उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट होकर उन्होंने अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से भ्रूण की रक्षा की। वे स्वयं *असमंजस* में थी कि कृष्ण सर्वव्यापी हैं, या स्थानीय। वस्तुतः वे दोनों हैं, लेकिन यह अधिकार उनको ही है कि जो लोग उनके शरणागत नहीं हैं, उनके समक्ष प्रकट न हों। अवरोध का यह पर्दा भगवान् की *माया-शक्ति* कहलाती है और यही वि जीव की संकुचित दृष्टि को नियन्त्रित करती है। इस की व्याख्या आगे की गई है।

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।

न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

माया—ठगने वाली; जवनिका—पर्दा; आच्छन्नम्—ढका; अज्ञा—अज्ञानी; अधोक्षजम्—भौतिक बोध की सीमा से परे (दिव्य); अव्ययम्—अविनाशी; न—नहीं; लक्ष्यसे—दिखता है; मूढ-दृशा—मूर्ख देखनेवाले के द्वारा; नटः—कलाकार; नाट्य-धरः—अभिनेता का भेष धारण किये; यथा—जिस प्रकार।

सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से परे होने के कारण, आप ठगिनी शक्ति (माया) के पर्दे से ढके रहनेवाले शाश्वत अव्यय तत्त्व हैं। आप मूर्ख दर्शक के लिए ठीक उसी प्रकार अदृश्य रहते हैं, जिस प्रकार अभिनेता के वस्त्र पहना हुआ कलाकार पहचान में नहीं आता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि अल्पज्ञानी व्यक्ति उन्हें अपने समान ही सामान्य व्यक्ति समझने की भूल करते हैं और इस प्रकार वे लोग उनका उपहास करते हैं। यहाँ पर इसी बात की महारानी कुन्ती द्वारा पुष्टि की गई है। अल्प ज्ञानी व्यक्ति वे हैं, जो

भगवान् की सत्ता के प्रति विद्रोह करते हैं। ऐसे व्यक्ति असुर कहलाते हैं। असुर भगवान् की सत्ता को नहीं पहचान सकते। भगवान् जब राम, नृसिंह, वराह या अपने मूल रूप कृष्ण रूप में हम लोगों के मध्य प्रकट होते हैं, तो वे ऐसे अनेक आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, जो मनुष्य के लिए असम्भव हैं। जैसाकि हम इस महान ग्रंथ के दशम-स्कंध में देखेंगे, भगवान् श्रीकृष्ण ने तभी से मानव मात्र के लिए असम्भव कार्य-कलाप करने प्रारम्भ कर दिये थे, जब वे अपनी माता की गोद में थे। उन्होंने उस पूतना राक्षसी का वध किया, जो अपने स्तनों में विष पोतकर उन्हें मारने आयी थी। भगवान् ने सामान्य बालक की भाँति उसका स्तन-पान किया लेकिन उन्होंने साथ ही साथ उसके प्राण भी सोख लिए। इसी प्रकार उन्होंने गोवर्धन पर्वत को उसी तरह उठा लिया, जिस प्रकार कोई बच्चा कुकुरमुत्ता उठा लेता है। वे वृन्दावनवासियों को रक्षा प्रदान करने के लिए पर्वत को कई दिनों तक उठाये रखे। ये भगवान् के कतिपय अतिमानवीय कार्यकलाप हैं, जिनका वर्णन पुराणों, इतिहासों तथा उपनिषदों में हुआ है। उन्होंने भगवद्गीता के रूप में अद्भुत उपदेश दिया। उन्होंने एक वीर, एक गृहस्थ, एक शिक्षक तथा एक त्यागी के रूप में अद्भुत पराक्रम कर दिखलाया। व्यास, देवल, असित, नारद, मध्व, शंकर, रामानुज, श्री चैतन्य महाप्रभु, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती तथा उस परम्परा के अन्य प्रामाणिक महापुरुषों ने उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं भी प्रामाणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसा ही घोषित किया है। फिर भी आसुरी मनोवृत्तिवाले लोगों का एक ऐसा वर्ग है, जो भगवान् को परम सत्य के रूप में मानने में आनाकानी करता है। यह कुछ तो उनके अल्प ज्ञान के कारण है और कुछ उनके विगत तथा वर्तमान दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप उनकी घोर मूढ़ता के कारण है। भगवान् कृष्ण जब लोगों की आँखों के सामने साक्षात् उपस्थित थे, तब भी वे उन्हें पहचान नहीं पाये थे। दूसरी कठिनाई यह है कि जो लोग अपनी अपूर्ण इन्द्रियों पर निर्भर रहते हैं, वे परमेश्वर के रूप में उनकी अनुभूति नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति आधुनिक वैज्ञानिकों के समान हैं। वे सारी वस्तुओं को अपने प्रयोगात्मक ज्ञान से जानना चाहते हैं। लेकिन परम पुरुष को अपूर्ण प्रयोगात्मक ज्ञान के द्वारा जान पाना असम्भव है। यहाँ पर उन्हें

अधोक्षज कहा गया है, अर्थात् वे प्रयोगात्मक ज्ञान की परिधि के परे हैं। हमारी सारी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं। हम दावा करते हैं कि हम सारी वस्तुएँ देख सकते हैं, लेकिन हमें कबुल करना होगा कि हम केवल कुछ भौतिक परिस्थितियों में ही वस्तुओं को देख सकते हैं, और वे भी हमारे वश में नहीं होतीं। भगवान् इन्द्रियगम्य नहीं हैं। महारानी कुन्ती बद्धजीव की, और विशेष रूप से अल्पज्ञ स्त्री जाति की, इस न्यूनता को स्वीकार करती हैं। अल्पज्ञ लोगों के लिए मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर जैसी वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिससे वे भगवान् की सत्ता को पहचानें तथा ऐसे पवित्र स्थलों में भगवान् के विषय में प्रामाणिक व्यक्तियों से श्रवण कर सकें। अल्पज्ञों के लिए आध्यात्मिक जीवन का ऐसा शुभारम्भ आवश्यक है और मूर्ख लोग ही इन पूजा-स्थलों की स्थापना का विरोध करते हैं, जिनकी आवश्यकता जनता में आध्यात्मिक गुणों के मानदण्ड को ऊपर उठाने के लिए पड़ती है। अल्पज्ञों के लिए मन्दिरों, मस्जिदों या गिरजाघरों में जाकर भगवान् की सत्ता के समक्ष नतमस्तक होना उतना ही लाभप्रद है, जितना उन्नत भक्तों के लिए क्रियात्मक भक्ति-सेवा द्वारा भगवान् का ध्यान करना।

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तथा—इसके अतिरिक्त; परमहंसानाम्—उन्नत अध्यात्मवादियों का; मुनीनाम्—महान चिन्तकों या विचारकों का; अमल-आत्मनाम्—आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम; भक्ति-योग—भक्ति का विज्ञान; विधान-अर्थम्—सम्पन्न करने के लिए; कथम्—कैसे; पश्येम—देख सकती हैं; हि—निश्चित ही; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

आप उन्नत अध्यात्मवादियों तथा आत्मा एवं पदार्थ में अन्तर करने में सक्षम होने से शुद्ध बने विचारकों के हृदयों में भक्ति के दिव्य विज्ञान का प्रसार करने के लिए स्वयं अवतरित होते हैं। तो फिर हम स्त्रियाँ आपको किस तरह पूर्ण रूप से जान सकती हैं?

तात्पर्य : बड़े-बड़े दार्शनिक-चिन्तक तक भगवान् के धाम तक नहीं पहुँच पाते। उपनिषदों में कहा गया है कि परम सत्य, परमेश्वर का परम व्यक्तित्व बड़े-से-बड़े दार्शनिक की चिन्तन-शक्ति से परे है। वे महान विद्या या महानतम् मस्तिष्क द्वारा भी नहीं जाने जा सकते। उन्हें वही

जान पाता है, जिस पर उनकी कृपा हुई हो। अन्य लोग भले ही वर्षों तक उनका चिन्तन करते ही क्यों न रहें, वे अज्ञेय ही रहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि महारानी कुन्ती द्वारा होती है, जो एक अबोध स्त्री की भूमिका निभा रही हैं। स्त्रियाँ सामान्य रूप से दार्शनिकों की भाँति चिन्तन नहीं कर सकतीं, लेकिन उन्हें भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त है, क्योंकि वे भगवान् की श्रेष्ठता तथा सर्वशक्तिमत्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेती हैं और बिना किसी संकोच के नतमस्तक हो जाती हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि वे केवल ऐसे व्यक्ति पर विशेष अनुग्रह नहीं करते, जो महान दार्शनिक होता है। वे प्रयोजन की निष्ठा को जानते हैं। इसीलिए प्रायः किसी भी धार्मिक उत्सव के अवसर पर स्त्रियाँ बड़ी संख्या में एकत्र होती हैं। प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक धर्म के सम्प्रदाय में ऐसा लगता है कि स्त्रियों की रुचि पुरुषों से अधिक है। भगवान् की सत्ता की स्वीकृति की यह सरलता निष्कारित धार्मिक दिखावे से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।

नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृष्णाय—भगवान् को; वासुदेवाय—वसुदेव के पुत्र को; देवकी-नन्दनाय—देवकी के पुत्र को; च—तथा; नन्द-गोप—नन्द तथा ग्वालों के; कुमाराय—पुत्र को; गोविन्दाय—भगवान् को, जो इन्द्रियों तथा गौवों के प्राण हैं; नमः—सादर नमस्कार; नमः—नमस्कार ।

अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करती हूँ, जो वसुदेव के पुत्र, देवकी के लाडले, नन्द के लाल तथा वृन्दावन के अन्य ग्वालों एवं गौवों तथा इन्द्रियों के प्राण बनकर आये हैं।

तात्पर्य : किसी भी भौतिक सम्पदा द्वारा प्राप्त न किये जा सकने वाले भगवान् इस प्रकार, अपने अनन्य भक्तों पर विशेष अनुग्रह दिखाने तथा आसुरी लोगों के उपद्रवों का शमन करने के लिए अपनी असीम अहैतुकी कृपा से इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं। महारानी कुन्ती, अन्य सभी अवतारों की अपेक्षा भगवान् कृष्ण के अवतरण की विशेष रूप से पूजा करती हैं, क्योंकि वे इसी रूप में सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं। राम-अवतार में वे बचपन से ही राजा के पुत्र बने

रहे, लेकिन कृष्ण-अवतार में राजा के पुत्र होते हुए भी, उन्होंने अपने असली माता-पिता (राजा वसुदेव तथा महारानी देवकी) के संरक्षण को जन्मते ही त्याग दिया और यशोदा माई की गोद में चले गये, जिससे उनकी बाल लीलाओं के कारण अत्यन्त पावन वृन्दावन की पुण्य भूमि में वे सामान्य ग्वाल-बाल का अभिनय कर सकें अतएव भगवान् कृष्ण भगवान् राम की अपेक्षा अधिक दयालु हैं। वे कुन्ती के भाई वसुदेव तथा उनके परिवार के प्रति विशेष रूप से अत्यन्त दयालु थे। यदि कृष्ण वसुदेव तथा देवकी के पुत्र रूप में जन्म न लिये होते, तो महारानी कुन्ती उन्हें अपना भतीजा मानकर इतने वात्सल्यभाव से उन्हें सम्बोधित न कर पातीं। किन्तु अधिक भाग्यशाली तो नन्द और यशोदा हैं, जिन्होंने भगवान् की बाल-लीलाओं का रस लूटा, जो अन्य लीलाओं से अधिक मनोहारी है। ब्रजभूमि वृन्दावन में प्रदर्शित की गई उनकी बाललीलाओं के समान अन्य कुछ नहीं है, जो चिन्तामणि धाम के नाम से ब्रह्म-संहिता में वर्णित मूल कृष्णलोक में हो रही उनकी सनातन लीलाओं का एक नमूना है। भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजभूमि में अपने दिव्य पार्षदों तथा साज-सामग्री के साथ स्वयं अवतरित हुए थे। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है कि ब्रजभूमि के वासियों के समान अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है और उनमें भी गोपियाँ विशेष रूप से भाग्यशालिनी हैं, क्योंकि उन्होंने भगवान् की प्रसन्नता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। वे नन्द तथा यशोदा के साथ, ग्वालों के साथ तथा विशेष रूप से ग्वाल-बालों एवं गौवों के साथ अपनी लीलाओं के कारण गोविन्द कहलाये। गोविन्द-रूप में भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के प्रति विशेष सद्य हैं, जिसका अर्थ है कि मानवीय सम्पन्नता बहुत कुछ इन्हीं दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो ब्रह्मण संस्कृति तथा दूसरी गो-रक्षा। जहाँ इन दोनों का अभाव रहता है, वहाँ भगवान् कृष्ण कभी प्रसन्न नहीं होते।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; पङ्कज-नाभाय—भगवान् को, जिनके उदर के मध्यभाग में कमल-पुष्प के समान विशेष गड्ढा है; नमः—नमस्कार; पङ्कज-मालिने—कमल-पुष्प की माला से निरन्तर सज्जित रहनेवाले को; नमः—नमस्कार; पङ्कज-नेत्राय—जिनकी दृष्टि कमल-पुष्प के समान शीतल है; नमः ते—आपको नमस्कार है; पङ्कज-अङ्घ्रये—कमल-पुष्पों से अंकित चरण के तलवों वाले को।

जिनके उदर के मध्य में कमलपुष्प के सदृश गर्त है, जो सदैव कमल-पुष्प की माला धारण करते हैं, जिनकी चितवन कमल-पुष्प के समान शीतल है और जिनके चरणों (के तलवों) में कमल अंकित हैं, उन भगवान् को मैं सादर नमस्कार करती हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के दिव्य शरीर में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनसे उनका शरीर अन्य सारे व्यक्तियों के शरीर से भिन्न लगता है। ये भगवान् के शरीर के विशिष्ट चिह्न हैं। भले ही भगवान् हम में से एक जैसे लगते हों, लेकिन वे अपने विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के कारण सर्वदा भिन्न रहते हैं। श्रीमती कुन्ती अपने आपको भगवान् का दर्शन कर पाने में अक्षम मानती हैं, क्योंकि वे स्त्री हैं। ऐसा माना जाता है कि स्त्रियाँ, शूद्र (श्रमिक वर्ग) तथा द्विज-बन्धु (तीनों द्विज-जातियों की नीच सन्तानें) परम सत्य के नाम, यश, लक्षण, रूप आदि से सम्बन्धित दिव्य विषय को समझने में असमर्थ होते हैं। यद्यपि ऐसे व्यक्ति भगवान् की लीलाओं को समझने में असमर्थ होते हैं, तो भी वे भगवान् को *अर्चा-विग्रह* के रूप में देख सकते हैं, जो उपर्युक्त स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं समेत समस्त पतितात्माओं पर दया करने के उद्देश्य से भौतिक जगत में अवतरित होते हैं। चूँकि ऐसे पतित लोग पदार्थ के परे कुछ भी नहीं देख पाते, अतः भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में असंख्य ब्रह्माण्डों में से प्रत्येक में प्रविष्ट होने के लिए सन्नद्ध होते हैं, जिनके दिव्य उदर के मध्य के कमलवत् गड्ढे (नाभि) से कमल-नाल अंकुरित होती है और इस तरह, ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म होता है। इसीलिए भगवान् को पंकज-नाभि कहा जाता है। ये पंकज-नाभि भगवान् अनेक तत्त्वों के बने *अर्चा-विग्रह* के रूप को स्वीकार करते हैं—यथा मन के भीतर बना रूप, मिट्टी का रूप, पार्थिव रूप, धातु रूप, रत्न-रूप, रंग-रूप, बालपर अंकित किया गया रूप इत्यादि। भगवान् के इन सारे रूपों को कमल की मालाओं से सजाया जाता है। पूजा-मन्दिर में ऐसा शान्तिप्रद वातावरण होना चाहिए, जिससे भौतिक कार्यों में सदैव

निरत रहनेवाले अभक्तजनों का उत्कट ध्यान उस ओर आकृष्ट हो। ध्यानी लोग मन के भीतर एक साकार रूप की पूजा करते हैं, अतएव भगवान् स्त्रियों, शूद्रों तथा द्विज-बन्धुओं पर भी दयालु होते हैं, बशर्ते कि वे विविध रूपों में बने पूजा-मन्दिरों में जाना स्वीकार करें। ऐसे मन्दिर जानेवाले मूर्ति-पूजक नहीं होते, जैसाकि कुछ अल्पज्ञ लोगों द्वारा कहा जाता है। बड़े-बड़े आचार्यों ने अल्पज्ञानियों पर कृपा करते हुए सर्वत्र ऐसे पूजा-मन्दिरों की स्थापना की। वास्तव में शूद्रों या स्त्रियों अथवा उनसे भी निम्न श्रेणी में रहते हुए किसी को यह दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने मंदिर-पूजा की अवस्था पार कर ली है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का दर्शन करने में उनके चरणकमलों से प्रारम्भ करके क्रमशः जाँघों, कमर, वक्षस्थल तथा मुख तक पहुँचे। उसे भगवान् के चरणकमलों के दर्शन का अभ्यास किये बिना भगवान् के मुख का दर्शन करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। भगवान् की बुआ होने के कारण श्रीमती कुन्ती ने भगवान् का दर्शन चरणकमलों से प्रारम्भ नहीं किया, क्योंकि इससे भगवान् लज्जित होते। अतएव इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भगवान् के चरणकमलों के ऊपर के भाग अर्थात् कमर से धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठते हुए मुख का, और फिर चरणकमलों का दर्शन किया। चक्र में प्रत्येक वस्तु समुचित क्रम से हो जाती है।

यथा हृषीकेश खलेन देवकी
 कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता ।
 विमोचिताहं च सहात्मजा विभो
 त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यथा—मानो; हृषीकेश—इन्द्रियों के स्वामी; खलेन—ईध्यालु के द्वारा; देवकी—देवकी (श्रीकृष्ण की माता); कंसेन—राजा कंस द्वारा; रुद्धा—बन्दी बनाया गया; अति-चिरम्—दीर्घ काल तक; शुच-अर्पिता—दुखी; विमोचिता—मुक्त किया; अहम् च—मैं भी; सह-आत्म-जा—अपने बच्चों सहित; विभो—हे महान्; त्वया एव—आप ही के द्वारा; नाथेन—रक्षक के रूप में; मुहुः—निरन्तर; विपत्-गणात्—विपत्तियों के समूह से।

हे हृषीकेश, हे इन्द्रियों के स्वामी तथा देवों के देव, आपने दीर्घ काल तक बन्दीगृह में बन्दिनी बनाई गई और दुष्ट राजा कंस द्वारा सताई जा रही अपनी माता देवकी को तथा अनवरत विपत्तियों से घिरे हुए मेरे पुत्रों समेत मुझको मुक्त किया है।

तात्पर्य : कृष्ण की माता तथा कंस की बहन देवकी को उसके पति वसुदेव सहित बन्दीगृह में रख दिया गया था, क्योंकि दुष्ट राजा कंस को भय था कि वह देवकी के आठवें पुत्र (कृष्ण) द्वारा मारा जायेगा। उसने कृष्ण के पूर्व पैदा हुए देवकी के सारे बच्चों का वध कर दिया था, किन्तु कृष्ण बाल-वध के संकट से बच निकले, क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के पालकपिता नन्द महाराज के घर पहुँचा दिये गये थे। कुन्ती देवी भी अपने पुत्रों समेत, अनेक कष्टों की शृंखला से बचाई जाती रहीं। लेकिन भगवान् कृष्ण ने कुन्ती देवी पर कुछ अधिक ही अनुग्रह किया था, क्योंकि उन्होंने देवकी के अन्य पुत्रों की रक्षा नहीं की, जबकि कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। इसका कारण यह था कि देवकी के पति वसुदेव जीवित थे, लेकिन कुन्ती विधवा थीं और कृष्ण के अतिरिक्त उनका अन्य कोई रक्षक न था। निष्कर्ष यह है कि कृष्ण उस भक्त पर अधिक अनुग्रह करते हैं, जो अधिक संकट में होता है। कभी-कभी वे जानकर शुद्ध भक्तों को ऐसे संकटों में डालते हैं, क्योंकि ऐसी असहायावस्था में भक्त भगवान् के प्रति अधिक अनुरक्त बनता है। भगवान् के प्रति जितनी अधिक अनुरक्ति होगी, भक्त को उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शना-

दसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।

मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो

द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

विषात्—विष से; महा-अग्नेः—प्रबल अग्निकाण्ड से; पुरुष-अद—मनुष्य के भक्षक से; दर्शनात्—मल्लयुद्ध करके; असत्—दुष्ट; सभायाः—सभा से; वन-वास—जंगल में प्रवासित; कृच्छ्रतः—कष्ट से; मृधे मृधे—युद्ध में बारम्बार; अनेक—अनेक; महा-रथ—बड़े-बड़े सेनानायक; अस्त्रतः—हथियार से; द्रौणि—द्रोणाचार्य के पुत्र के; अस्त्रतः—अस्त्र से; च—तथा; आस्म—था; हरे—हे भगवान्; अभिरक्षिताः—पूर्ण रूप से सुरक्षित।

हे कृष्ण, आपने हमें विषाक्त भोजन से, भीषण अग्नि-काण्ड से, मानव-भक्षियों से, दुष्ट सभा से, वनवास-काल के कष्टों से तथा महारथियों द्वारा लड़े गये युद्ध से बचाया है। और अब आपने हमें अश्वत्थामा के अस्त्र से बचा लिया है।

तात्पर्य : यहाँ पर घातक संघर्षों की सूची प्रस्तुत की गई है। देवकी को तो एक ही बार अपने दुष्ट भाई के कारण कष्ट मिला, अन्यथा वे कुशलपूर्वक रहें, किन्तु कुन्ती देवी तथा उनके पुत्रों को तो वर्षों तक लगातार एक के बाद एक कष्ट उठाने पड़े। उन्हें राज्य के लिए दुर्योधन तथा उसकी टोली के लोग मुसीबतों में डालते रहे और हर बार कृष्ण ने कुन्ती के पुत्रों की रक्षा की। एक बार भीम को भोजन में विष खिला दिया गया। एक बार उन्हें लाक्षागृह में रखकर उसमें आग लगा दी गई तथा एक बार द्रौपदी का चीर हरण किया गया और दुष्ट कौरवों की सभा में उन्हें नग्न करने का प्रयास करके उसे अपमानित किया गया। भगवान् ने द्रौपदी के लिए अपरिमित वस्त्रों की पूर्ति की, जिससे दुर्योधन का दल उसे नग्न होते न देख सका। इसी प्रकार जब पाँचों पाण्डव वनवास कर रहे थे, तो भीम को मनुष्य-भक्षक राक्षस हिडिम्ब से लड़ना पड़ा, किन्तु तब भगवान् ने भीम की रक्षा की। यह खेल यहीं नहीं समाप्त हुआ। इन सब कष्टों के बाद कुरुक्षेत्र का महान युद्ध हुआ और अर्जुन को द्रोण, भीष्म तथा कर्ण जैसे महाबली सेनानायकों का सामना करना पड़ा। और जब सब समाप्त हो गया, तो द्रोणाचार्य के पुत्र ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु को मारने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब भगवान् ने कुरुवंश के एकमात्र संभाव्य वंशज महाराज परीक्षित की रक्षा की।

विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

विपदः—विपत्तियाँ; सन्तु—आने दो; ताः—सारी; शश्वत्—पुनः पुनः; तत्र—वहाँ; तत्र—तथा वहाँ; जगत्-गुरो—हे जगत के स्वामी; भवतः—आपकी; दर्शनम्—भेंट; यत्—जो; स्यात्—हो; अपुनः—फिर नहीं; भव-दर्शनम्—जन्म-मृत्यु को बारम्बार देखना।

मैं चाहती हूँ कि ये सारी विपत्तियाँ बारम्बार आयें, जिससे हम आपका दर्शन पुनः पुनः कर सकें, क्योंकि आपके दर्शन का अर्थ यह है कि हमें बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु को नहीं देखना पड़ेगा।

तात्पर्य : सामान्यतया दुखी, जरूरतमन्द, बुद्धिमान तथा जिज्ञासु लोग, जिन्होंने कुछ पुण्य कर्म किये हैं, वे भगवान् की पूजा करते हैं या पूजा करना प्रारम्भ करते हैं। अन्य लोग, जो दुष्कर्म से ही फलते-फूलते हैं, चाहे वे जिस स्तर के हों, माया द्वारा भ्रमित होने के कारण भगवान् के पास नहीं पहुँच पाते। अतएव पुण्यात्मा के लिये संकट आने पर भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लेने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर स्मरण करने का अर्थ है, जन्म-मृत्यु से छूटने की तैयारी करना। अतः भले ही तथाकथित आपत्तियाँ आयें, उनका स्वागत करना होगा, क्योंकि वे हमें भगवान् के स्मरण का अवसर प्रदान करती हैं जिसका अर्थ है मुक्ति।

जिसने अविद्या के सागर को पार करने के लिए सर्वोत्तम नाव के समान भगवान् के चरणकमलों की शरण ली है, वह उतनी ही सरलता से मुक्ति प्राप्त करता है, जितनी सरलता से बछड़े के खुर के निशान को लाँचा जा सकता है। ऐसे लोग भगवद्धाम में रहने के अधिकारी हैं और उन्हें ऐसे स्थान से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, जहाँ पग-पग पर संकट हो।

भगवद्गीता में भगवान् ने इस भौतिक जगत् को आपत्तियों से भरा कष्टप्रद स्थान बताया है। अल्पज्ञानी व्यक्ति इन आपत्तियों के साथ समझौता करने की योजना बनाते हैं, लेकिन वे जानते नहीं हैं कि इस स्थान का प्रकार ही ऐसा है कि वह आपत्तियों से भरा है। उन्हें भगवान् के उस धाम का बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता, जो आनन्द से भरपूर है और जहाँ तनिक भी आपत्ति नहीं है। अतएव प्रबुद्ध मनुष्य का यह कर्तव्य है कि भौतिक आपत्तियों से अविचलित रहे, क्योंकि आपत्तियाँ तो सभी परिस्थितियों में आती ही हैं। सभी प्रकार की अपरिहार्य विपत्तियों का सामना करते हुए मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करते रहना चाहिये, क्योंकि मानव जीवन का यही उद्देश्य है। चूँकि आत्मा समस्त भौतिक आपत्तियों से परे है, अतएव तथाकथित आपत्तियाँ

मिथ्या बतलाई गई हैं। स्वप्न में कोई मनुष्य अपने को बाघ द्वारा निगला जाता देख सकता है और वह इस आपत्ति के कारण चिल्ला सकता है, किन्तु वास्तव में न तो बाघ रहता है, न आपत्ति; यह तो कोरा स्वप्न है। इसी प्रकार जीवन की सारी आपत्तियाँ स्वप्न-तुल्य कही जाती हैं। यदि कोई भक्ति मय सेवा द्वारा भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है, तो लाभ ही लाभ है। नवधा भक्ति में से किसी एक के द्वारा भगवान् का सान्निध्य भगवद्भाम जाने की दिशा में सदा एक अग्रिम पग है।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।

नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; श्रुत—शिक्षा; श्रीभिः—सुन्दरता के स्वामित्व द्वारा; एधमान—लगातार वृद्धि करता हुआ; मदः—प्रमत्तता; पुमान्—मनुष्य; न—कभी नहीं; एव—ही; अर्हति—पात्र होता है; अभिधातुम्—सम्बोधित करने के लिये; वै—निश्चय ही; त्वाम्—आपको; अकिञ्चन-गोचरम्—जो भौतिक दृष्टि से दरिद्र मनुष्य के द्वारा सरलता से प्राप्त हो सके।

हे प्रभु, आप सरलता से प्राप्त होने वाले हैं, लेकिन केवल उन्हीं के द्वारा, जो भौतिक दृष्टि से अकिञ्चन हैं। जो सम्मानित कुल, ऐश्वर्य, उच्च शिक्षा तथा शारीरिक सौंदर्य के द्वारा भौतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने के प्रयास में लगा रहता है, वह आप तक एकनिष्ठ भाव से नहीं पहुँच पाता।

तात्पर्य : भौतिक दृष्टि से समुन्नत होने का अर्थ है किसी कुलीन परिवार में जन्म लेना और प्रचुर सम्पत्ति, शिक्षा तथा आकर्षक सौंदर्य से युक्त होना। सारे भौतिकतावादी लोग इन सारे भौतिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने के पीछे पागल रहते हैं और इसी को भौतिक सभ्यता की उन्नति कहा जाता है। लेकिन परिणाम यह होता है कि इन समस्त क्षणिक भौतिक सम्पत्तियों के होने से मनुष्य कृत्रिम रूप से गर्वित हो उठता है और मदान्ध हो जाता है। फलस्वरूप, भौतिकता के नशे में चूर ऐसे लोग भगवान् का पवित्र नाम लेने तथा भावविभोर होकर 'हे गोविन्द, हे कृष्ण' सम्बोधित करने में अक्षम हो जाते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् का पवित्र नाम एक बार भी लेने से पापी इतने पापों से मुक्त हो जाता है, जितने वह कर भी नहीं सकता। भगवान् का

पावन नाम लेने में इतनी शक्ति है। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। सचमुच भगवान् के पवित्र नाम में ऐसी प्रबल शक्ति है। लेकिन ऐसा नाम लेने में गुणता चाहिए यह भाव की गुणता पर निर्भर करता है। एक असहाय व्यक्ति भगवान् का नाम भावविभोर होकर ले सकता है, लेकिन यदि उसी नाम को कोई भौतिकता से सम्पन्न व्यक्ति लेता है, तो उसमें उतनी निष्ठा नहीं हो सकती। भौतिकता के मद में फूला रहनेवाला व्यक्ति यदा-कदा भगवान् का पवित्र नाम जप सकता है, लेकिन वह गुणतापूर्वक नाम लेने में अक्षम होता है। अतएव भौतिक उन्नति के चार सिद्धान्त—१) उच्चकुल, २) सम्पत्ति, ३) उच्च शिक्षा तथा ४) आकर्षक सौंदर्य—ये चारों आध्यात्मिक उन्नति के पथ में अग्रसर होने के लिये मानो अयोग्यताएँ हैं। शुद्ध आत्मा का भौतिक आवरण बाह्य गुण है, जिस प्रकार ज्वर रुग्ण शरीर का बाह्य गुण होता है। सामान्य विधि यह है कि ज्वर की तीव्रता कम की जाय, न कि कुपचार द्वारा उसे बढ़ाया जाय। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत व्यक्ति भौतिक रूप से निर्धन रह जाते हैं। लेकिन इससे हतोत्साहित नहीं होना चाहिये। उल्टे, यह निर्धनता शुभ चिह्न है, जिस प्रकार कि शरीर में ज्वर का ताप घटना शुभ है। जीवन का उद्देश्य उस भौतिक मद को घटाना होना चाहिए, जिसके कारण मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य के विषय में अधिकाधिक भ्रमित होता जाता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त व्यक्ति भगवद्धाम जाने के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं।

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।

आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार है; अकिञ्चन-वित्ताय—निर्धनों के धन-स्वरूप को; निवृत्त—भौतिक गुणों की क्रियाओं से सदा परे; गुण—भौतिक गुण; वृत्तये—स्नेह; आत्म-आरामाय—आत्मतृष्ट को; शान्ताय—परम शान्त को; कैवल्य-पतये—अद्वैतवादियों के स्वामी को; नमः—प्रणाम है।

मैं निर्धनों के धन आपको नमस्कार करती हूँ। आपको प्रकृति के भौतिक गुणों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से कोई सरोकार नहीं है। आप आत्म-तृष्ट हैं, अतएव आप परम शान्त तथा अद्वैतवादियों के स्वामी कैवल्य-पति हैं।

तात्पर्य : यदि जीव के पास कुछ भी न रहे, तो वह समाप्त हो जाता है। अतएव वास्तव में देखा जाय, तो जीव परित्यागी नहीं हो सकता। यदि जीव कुछ त्याग करता है, तो वह कुछ और अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के लिए करता है। एक विद्यार्थी अपनी बाल्यकाल की चपलता का त्याग श्रेष्ठ शिक्षा प्राप्त करने के लिये करता है। एक नौकर अधिक अच्छा काम पाने के लिये अपना काम छोड़ता है। इसी प्रकार एक भक्त इस भौतिक जगत का परित्याग व्यर्थ ही नहीं करता, अपितु कुछ असली आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये करता है। श्रील रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी इत्यादि ने भगवान् की सेवा के लिये ही सांसारिक तड़क-भड़क का परित्याग किया। सांसारिक दृष्टि से वे महापुरुष थे। ये गोस्वामी बंगाल सरकार में मन्त्री थे और श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी अपने समय के बहुत बड़े जमींदार के पुत्र थे, लेकिन उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया, जिससे उन्हें इससे श्रेष्ठतर उपलब्धि हो सके। भक्तगण सामान्य रूप से सम्पत्तिविहीन होते हैं, लेकिन भगवान् के चरणकमल उनके गुह्यतम कोषागार हैं। श्रील सनातन गोस्वामी के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर कथा है। उनके पास एक पारस पत्थर था, जिसे उन्होंने कूड़े के ढेर में छोड़ दिया था। एक जरूरतमन्द व्यक्ति उसे वहाँ से उठा ले गया, किन्तु बाद में वह सोचने लगा कि आखिर इसे ऐसे उपेक्षित स्थान में क्यों छोड़ रखा गया होगा। अतएव उसने सनातन गोस्वामी से सब से कीमती वस्तु का नाम पूछा, तो उन्होंने उसे भगवान् का पवित्र नाम दिया। *अकिंचन* का अर्थ है निर्धन, अर्थात् जिसके पास देने के लिए भौतिक रूप में कुछ न हो। वास्तविक भक्त या *महात्मा* किसी को कोई भौतिक वस्तु नहीं देता, क्योंकि वह पहले से सारी भौतिक सम्पत्ति त्याग चुका होता है। लेकिन वह परम धन का अर्थात् भगवान् का दान दे सकता है, क्योंकि भगवान् ही भक्त के वास्तविक धन होते हैं। सनातन गोस्वामी का कूड़े में पड़ा पारस पत्थर, उनका धन न था अन्यथा उसे ऐसे स्थान में रखा न गया होता। यह विशेष उदाहरण नवदीक्षित भक्तों के समक्ष रखा जाता है, जिससे उन्हें विश्वास दिलाया जा सके कि भौतिक लोभ तथा आध्यात्मिक उन्नति साथ-साथ नहीं चलते। जब तक कोई व्यक्ति हर वस्तु को भगवान् के साथ आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित नहीं देखता, तब तक उसे आत्मा तथा पदार्थ में अन्तर दिखता

है। श्रील सनातन गोस्वामी जैसे गुरु ने यह उदाहरण हम सब लोगों के लिए प्रस्तुत किया, क्योंकि हममें वैसी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है यद्यपि वे स्वयं प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक रूप में देखने वाले थे।

भौतिक दृष्टि का विकास या भौतिक सभ्यता आध्यात्मिक उन्नति में एक रोड़े का काम करती है। ऐसा भौतिक विकास जीव को भौतिक शरीर के बन्धन में उलझा देता है, जिसके बाद अनेक भौतिक कष्ट आते रहते हैं। ऐसी भौतिक प्रगति *अनर्थ* अथवा अवांछित वस्तु कहलाती है। वास्तव में है भी ऐसा ही। वर्तमान समय की भौतिक प्रगति के प्रसंग में पचास सेण्ट अर्थात् आधे डालर दाम वाली लिपस्टिक के प्रयोग का नाम लिया जा सकता है। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुएँ हैं, जो देहात्म-बुद्धि से प्रसूत हैं। ऐसी अनेक अवांछित वस्तुओं की ओर मन लगाने से मनुष्य की शक्ति व्यर्थ ही नष्ट होती है और आत्म-साक्षात्कार भी प्राप्त नहीं हो पाता, जो मानव की प्रमुख आवश्यकता है। चन्द्रमा तक पहुँचने के प्रयास दूसरा उदाहरण है, जिसमें शक्ति का अपव्यय होता है, क्योंकि यदि चन्द्रमा तक पहुँच भी लिया जाय, तो भी जीवन की समस्याएँ हल होने वाली नहीं हैं। भगवान् के भक्त *अकिञ्च* कहलाते हैं, क्योंकि उनके पास व्यावहारिक रूप से भौतिक सम्पत्ति नहीं होती। ऐसी भौतिक सम्पत्ति प्रकृति के तीनों गुणों का प्रतिफल है। वे आध्यात्मिक शक्ति को व्यर्थ कर देते हैं; अतएव हमारे पास जितनी ही कम भौतिक वस्तुएँ होंगी, उतना ही अधिक अवसर हमें आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्राप्त हो सकेगा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का भौतिक कार्यकलापों से किसी तरह का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उनके सारे कर्म जो इस भौतिक जगत में भी प्रदर्शित होते हैं, आध्यात्मिक होते हैं और भौतिक प्रकृति के गुणों से रागविहीन होते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि उनके सारे कर्म, यहाँ तक कि इस जगत में उनका आविर्भाव तथा तिरोधान भी दिव्य होता है और जो इसे ठीक से जान लेता है, वह इस जगत में फिर से जन्म न लेकर भगवद्धाम को वापस जाता है।

भवरोग का कारण प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की लालसा है। यह लालसा प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप है और न तो भगवान्, न ही भक्तगण ऐसे मिथ्या भोग के

प्रति आसक्त होते हैं। अतएव भगवान् तथा भक्त निवृत्त-गुण-वृत्ति कहलाते हैं। पूर्ण निवृत्त-गुण-वृत्ति तो परमेश्वर हैं, जो प्रकृति के गुणों द्वारा कभी आकृष्ट नहीं होते, लेकिन जीवों में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। इनमें से कुछ भौतिक प्रकृति के मोहाकर्षण में फँस जाते हैं।

चूँकि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति हैं और भक्तगण उसी तरह भगवान् की सम्पत्ति हैं, अतएव भक्तगण भी निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों से परे होते हैं। यह एक सीधा-सा निष्कर्ष है। ऐसे अनन्य भक्त उन मिश्रित भक्तों से भिन्न हैं, जो दुख तथा दरिद्रता को दूर करने के लिए, या उत्सुकता तथा तर्क के कारण भगवान् के पास आते हैं। अनन्य भक्त तथा भगवान् का एक दूसरे से दिव्य सम्बन्ध होता है। लेकिन अन्यो के लिए भगवान् के पास कुछ लेन-देन नहीं होती, अतएव वे आत्माराम या आत्म-तुष्ट कहलाते हैं। आत्माराम होने के कारण, वे समस्त अद्वैतवादियों के स्वामी हैं, जो भगवान् के अस्तित्व में एकाकार हो जाना चाहते हैं। ऐसे अद्वैतवादी भगवान् के व्यक्तिगत तेज में एकाकार हो जाते हैं, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं, लेकिन भक्त तो भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रवेश करते हैं, जिन्हें कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए।

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।

समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

मन्ये—मानती हूँ; त्वाम्—आपको; कालम्—शाश्वत समय; ईशानम्—परमेश्वर; अनादि-निधनम्—आदि-अन्त रहित; विभुम्—सर्वव्यापी; समम्—समान रूप से दयालु; चरन्तम्—वितरित करते हुए; सर्वत्र—सभी जगह; भूतानाम्—जीवों का; यत् मिथः—मतभेद; कलिः—कलह।

हे भगवान्, मैं आपको शाश्वत समय, परम नियन्ता, आदि-अन्त से रहित तथा सर्वव्यापी मानती हूँ। आप सबों पर समान रूप से दया दिखलाते हैं। जीवों में जो पारस्परिक कलह है, वह सामाजिक मतभेद के कारण है।

तात्पर्य : कुन्ती देवी जानती थीं कि कृष्ण न तो उनके भतीजे हैं और न उनके पितृकुल के सामान्य पारिवारिक सदस्य हैं। वे अच्छी तरह जानती थीं कि कृष्ण आदि-भगवान् हैं, जो

परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय में वास करनेवाले हैं। भगवान् के परमात्मा स्वरूप का अन्य नाम काल या शाश्वत समय भी है। यह काल हमारे सारे अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का साक्षी है और इस प्रकार उनके द्वारा ही कर्मफल निर्धारित होते हैं। यह कहने से कोई लाभ नहीं कि पता नहीं, हम क्यों दुख भोग रहे हैं। हम उन दुष्कर्मों को भूल सकते हैं, जिनके कारण हमें इस समय कष्ट उठाना पड़ रहा है, लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा हमारे नित्य संगी हैं, अतएव वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब कुछ जानते हैं। चूँकि भगवान् कृष्ण का परमात्मा स्वरूप ही सारे कर्मों तथा फलों को निर्धारित करनेवाला है, अतएव वे परम नियन्ता भी हैं। उनकी मर्जी के बिना एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। जीवों को उनकी योग्यता के अनुसार स्वतन्त्रता दी गई है और इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के कारण ही दुख भोगना होता है। भगवद्भक्त इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करते, अतएव वे भगवान् की अच्छी सन्तानें हैं। अन्य लोग, जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं, सनातन काल द्वारा कष्ट को प्राप्त होते हैं। काल ही बद्धजीवों को सुख तथा दुख दोनों प्रदान करता है। यह सब काल द्वारा पूर्वनिर्धारित है। जिस प्रकार हमारे न चाहने पर भी दुख आ जाते हैं, उसी प्रकार बिना माँगे सुख भी मिल सकता है, क्योंकि सुख-दुख काल द्वारा पूर्व-निर्धारित होते हैं। अतएव भगवान् का न तो कोई मित्र है, न शत्रु। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही भाग्य फल का सुख-दुख भोग रहा है। यह भाग्य जीवों द्वारा सामाजिक संघर्ष करते हुए निर्मित होता है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति पर प्रभुत्व जताना चाहता है, अतएव प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की अध्यक्षता में अपना भाग्य बनाता है। चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव वे हर एक के कर्मों को देख सकते हैं, और चूँकि भगवान् का कोई आदि-अन्त नहीं है, अतएव वे शाश्वत समय अर्थात् काल भी कहलाते हैं।

न वेद कश्चिद्भगवांश्चिकीर्षितं
 तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
 न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्
 द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता; कश्चित्—कोई; भगवन्—हे भगवान्; चिकीर्षितम्—लीलाएँ; तव—आपकी; ईहमानस्य—सांसारिक व्यक्तियों की भाँति; नृणाम्—सामान्य लोगों का; विडम्बनम्—भ्रामक; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; कश्चित्—कोई; दयितः—विशेष कृपा-पात्र; अस्ति—है; कर्हिचित्—कहीं; द्वेष्यः—ईर्ष्या की वस्तु; च—तथा; यस्मिन्—जिसमें; विषमा—पक्षपात; मतिः—विचार; नृणाम्—मनुष्यों का।

हे भगवान्, आपकी दिव्य लीलाओं को कोई समझ नहीं सकता, क्योंकि वे मानवीय प्रतीत होती हैं और इस कारण भ्रामक हैं। न तो आपका कोई विशेष कृपा-पात्र है, न ही कोई आपका अप्रिय है। यह केवल लोगों की कल्पना ही है कि आप पक्षपात करते हैं।

तात्पर्य : पतितात्माओं पर भगवान् की कृपा समान रूप से वितरित होती हैं। वे किसी से शत्रुता नहीं रखते। भगवान् को मनुष्य समझने की धारणा ही भ्रामक है। उनकी लीलाएँ मनुष्य के ही सदृश प्रतीत होती हैं, लेकिन वास्तव में वे दिव्य होती हैं और किसी भौतिक कल्मष से सर्वथा रहित होती हैं। निस्सन्देह, वे अपने शुद्ध भक्तों का पक्षपात करने वाले माने जाते हैं, लेकिन वास्तव में वे कभी पक्षपात करते नहीं, जिस प्रकार कि सूर्य किसी का पक्षपात नहीं करता। सूर्य की किरणों से कभी-कभी पत्थर भी बहुमूल्य बन जाता है, जबकि एक अन्धा व्यक्ति प्रचुर सूर्य-प्रकाश में रहकर भी देख नहीं पाता। अन्धकार तथा प्रकाश दो विपरीत धारणाएँ हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि सूर्य अपनी किरणों का वितरण करने में पक्षपात करता है। सूर्य की किरणों सबों के लिए प्राप्य हैं, लेकिन ग्रहणकर्ताओं की क्षमताएँ भिन्न-भिन्न हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि भक्ति तो भगवान् की चाटुकरिता करके उनकी विशेष कृपा प्राप्त करना है। वस्तुतः भगवान् की दिव्य प्रेममय सेवा में लगे शुद्ध भक्त कोई व्यापारी समुदाय नहीं हैं। व्यापारी वर्ग धन के विनिमय में सेवा करता है। लेकिन शुद्ध भक्त ऐसी लेन-देन के लिए सेवा नहीं करता। अतएव भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए सदैव खुला रहता है। विपदाग्रस्त तथा जरूरतमन्द लोग, जिज्ञासु या विचारक व्यक्ति भगवान् से किसी लाभ-सिद्धि के लिए उनसे अस्थायी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। लेकिन जब उनका कार्य सिद्ध हो जाता है, तो वे भगवान् से कोई नाता नहीं रखते। कोई दुखियारा व्यक्ति यदि तनिक भी पवित्र होता है, तो भगवान् से छुटकारे के लिए प्रार्थना करता है। लेकिन जैसे ही उसके कष्ट दूर हो जाते हैं, बहुधा ऐसा आर्त व्यक्ति भगवान् से आगे अपना

सम्बन्ध बनाए रखने की कोई परवाह नहीं करता है। यद्यपि भगवान् की कृपा का द्वार उसके लिए खुला रहता है, किन्तु वह उससे कतराता है। एक शुद्ध भक्त तथा मिश्रित भक्त में यही अन्तर है। जो लोग भगवान् की सेवा के बिल्कुल विरुद्ध रहते हैं, वे निकृष्ट अन्धकार में रहे हुए माने जाते हैं; जो आवश्यकता के समय भगवान् से प्रार्थना करते हैं, वे कृपा के आंशिक पात्र हैं और जो भगवान् की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, वे भगवान् के पूर्ण कृपापात्र होते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त करने में ऐसा पक्षपात ग्रहणकर्ता के सापेक्ष है, न कि परम कृपालु भगवान् के पक्षपात के कारण।

जब भगवान् अपनी पूर्ण कृपामय शक्ति द्वारा इस जगत में अवतरित होते हैं, तो वे मनुष्य की भाँति क्रीड़ा करते हैं। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने भक्तों का पक्षपात करते हैं, लेकिन यह तथ्य नहीं है। ऐसे पक्षपात की प्रतीति के बावजूद, उनकी कृपा समान रूप से वितरित रहती है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भगवान् के समक्ष जितने भी व्यक्ति युद्ध में मरे, उन सबको पात्रता को विचार किये बिना ही मुक्ति मिल गई, क्योंकि भगवान् के समक्ष मृत्यु होने से मरनेवाला जीव सभी कर्मफलों से शुद्ध हो जाता है और मरने वाले व्यक्ति को परम धाम में कहीं-न-कहीं स्थान मिलता है। यदि मनुष्य सूर्य-किरणों के समक्ष बैठे, तो उसे निश्चित रूप से उष्मा तथा परा-बैंगनी किरणों का लाभ होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् कभी पक्षपात नहीं करते। सामान्य मनुष्य का यह सोचना गलत होता है कि वे पक्षपात करते हैं।

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः ।

तिर्यङ्मृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—तथा; विश्व-आत्मन्—हे विश्व के आत्मा; अजस्य—अजन्मा की; अकर्तुः—निष्क्रिय की; आत्मनः—प्राण-शक्ति की; तिर्यक्—पशु; नृ—मनुष्य; ऋषिषु—ऋषियों में; यादःसु—जल में; तत्—वह; अत्यन्त—वास्तविक, अत्यन्त; विडम्बनम्—भ्रामक, चकराने वाली।

हे विश्वात्मा, यह सचमुच ही चकरा देनेवाली बात (विडम्बना) है कि आप निष्क्रिय रहते हुए भी कर्म करते हैं और प्राणशक्ति रूप तथा अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं। आप

स्वयं पशुओं, मनुष्यों, ऋषियों तथा जलचरों के मध्य अवतरित होते हैं। सचमुच ही यह चकरानेवाली बात है।

तात्पर्य : भगवान् की दिव्य लीलाएँ न केवल चकरानेवाली हैं, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं। दूसरे शब्दों में, वे मनुष्य की सीमित चिन्तनशक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। भगवान् सारे अस्तित्व में सर्वव्यापी परमात्मा हैं, तो भी पशुओं में शूकर बन कर, मनुष्यों में राम, कृष्ण इत्यादि के रूप में, ऋषियों में नारायण रूप में तथा जलचरों के बीच मत्स्य रूप में प्रकट होते हैं। इतने पर भी उन्हें अजन्मा कहा जाता है और उन्हें कुछ भी नहीं करना होता है। श्रुति-मन्त्र में कहा गया है कि परमब्रह्म को कुछ नहीं करना होता। कोई भी न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर है। उनकी शक्तियाँ विविध हैं और उनका हर काम स्वतः ज्ञान, शक्ति तथा कर्म द्वारा सम्पन्न होता है। ये सारे कथन निस्सन्देह यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् की लीलाएँ, उनके रूप तथा उनके कार्यकलाप हमारी सीमित चिन्तन-शक्ति के लिए अचिन्त्य हैं। चूँकि वे कल्पना से परे शक्तिमान हैं, अतः उनके लिए हर कार्य सम्भव है। अतः उनके बारे में अनुमान लगा पाना कठिन है और इसीलिए भगवान् का प्रत्येक काम सामान्य मनुष्य को चकरा देने वाला है। उन्हें वैदिक ज्ञान द्वारा नहीं समझा जा सकता, लेकिन उन्हें शुद्ध भक्तों द्वारा सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि वे लोग भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में रहते हैं। अतएव भक्तगण जानते हैं कि यद्यपि भगवान् पशुओं के बीच प्रकट होते हैं, लेकिन वे न तो पशु हैं, न मनुष्य, न ऋषि, न ही मछली हैं। वे समस्त परिस्थितियों में शाश्वत परमेश्वर हैं।

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्विभेति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गोपी—ग्वालिन (यशोदा) ने; आददे—लिया; त्वयि—आप पर; कृतागसि—अड़चन डालने पर (मक्खन की मटकी फोड़ने पर); दाम—रस्सी; तावत्—उस समय; या—जो; ते—तुम्हारी; दशा—स्थिति; अश्रु-कलिल—अश्रुपूरित;

अञ्जन—काजल; सम्भ्रम—विचलित; अक्षम्—नेत्र; वक्त्रम्—चेहरा, मुँह; निनीय—नीचे की ओर; भय-भावनया—भय की भावना से; स्थितस्य—स्थिति का; सा—वह; माम्—मुझको; विमोहयति—मोहग्रस्त करती है; भीः अपि—साक्षात् भय भी; यत्—जिससे; बिभेति—भयभीत है।

हे कृष्ण, जब आपने कोई अपराध किया था, तब यशोदा ने जैसे ही आपको बाँधने के लिए रस्सी उठाई, तो आपकी व्याकुल आँखें अश्रुओं से डबडबा आईं, जिससे आपकी आँखों का काजल धुल गया। यद्यपि आपसे साक्षात् काल भी भयभीत रहता है, फिर भी आप भयभीत हुए। यह दृश्य मुझे मोहग्रस्त करनेवाला है।

तात्पर्य : यहाँ पर परमेश्वर की लीलाओं से उत्पन्न होने वाले मोह का एक दूसरा वर्णन दिया जा रहा है। भगवान् तो सभी परिस्थितियों में सर्वोपरि हैं, जैसे कि इसकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ पर भगवान् का सर्वोपरि होने का एक विशिष्ट उदाहरण है और साथ ही साथ वे अपने शुद्ध भक्तों के साथ उनके अधीन रहकर क्रीड़ा भी कर रहे हैं। भगवान् का शुद्ध भक्त अनन्य प्रेम के कारण ही भगवान् की सेवा करता है और ऐसी भक्तिमय सेवा करते हुए वह परमेश्वर की पद-स्थिति को भूल जाता है। भगवान् भक्तों की प्रेममयी सेवा का स्वीकार अधिक चाव से करते हैं, जब वह सेवा स्वयंस्फूर्त शुद्ध स्नेह से की जाती है, न कि पूज्य भाव से या प्रशंसा भाव से। सामान्य रूप से भगवान् अपने भक्तों द्वारा आदर की दृष्टि से पूजे जाते हैं, लेकिन भगवान् भक्त से तब विशेष प्रसन्न होते हैं, जब वह शुद्ध प्रेम तथा स्नेहवंश भगवान् को अपने से कम महत्त्वपूर्ण समझता है। भगवान् के मूल-धाम गोलोक वृन्दावन में भगवान् की सारी लीलाओं का आदान-प्रदान इसी मनोभाव से होता है। कृष्ण के मित्र उन्हें अपने ही जैसा एक मानते हैं। वे उन्हें आदरणीय महत्त्व के नहीं मानते। भगवान् के माता-पिता (जो सभी शुद्ध भक्त होते हैं) उन्हें केवल एक बालक मानते हैं। भगवान् अपने माता-पिता की प्रताड़नाओं को वैदिक स्तोत्रों द्वारा की गयी स्तुतियों से बढ़कर आनन्ददायी मानते हैं। इसी प्रकार वे अपनी प्रेमिकाओं के उलाहनों को वैदिक स्तोत्रों की अपेक्षा अधिक रुचि से सुनते हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम में, मूल गोलोक वृन्दावन के दिव्य जगत की नित्य लीलाओं को जनसामान्य के आकर्षण के लिए प्रकट करने के निमित्त उपस्थित थे, तो वे अपनी पालक-माता यशोदा के समक्ष विलक्षण विनीत भाव प्रकट करते रहे। वे अपनी बालोचित क्रीड़ाओं से यशोदा माता द्वारा एकत्र करके रखे गये

माखन की मटकी तोड़कर उसका सारा माखन बरवाद कर देते थे और उसे मित्रों तथा संगियों में, यहाँ तक कि वृन्दावन के प्रसिद्ध बन्दरों में भी बाँट दिया करते थे और वे सब भगवान् की इस दानशीलता का लाभ उठाते थे। जब यशोदा यह देखतीं, तो वे शुद्ध प्रेमवश इस दिव्य बालक को अपने दण्ड का दिखावा करतीं। वे रस्सी लेकर धमकातीं कि वे उन्हें बाँध देंगी, जिस प्रकार कि सामान्य घरों में किया जाता है। माता यशोदा के हाथ में रस्सी देखकर, भगवान् अपना सिर नीचे करके सामान्य बालक की भाँति रो पड़ते और उनके अश्रुओं से उनकी सुन्दर आँखों में लगा काजल धुलकर कपोलों पर ढुलक पड़ता। कुन्ती देवी ने भगवान् के इस रूप की पूजा की, क्योंकि वे उनकी परम स्थिति के प्रति सचेष्ट थीं। जिनसे साक्षात् भय भी भयभीत रहता है, वे भगवान् अपनी माता से भयभीत हैं, क्योंकि माता उन्हें सामान्य तरीके से दण्डित करना चाह रही थीं। कुन्ती को भगवान् की श्रेष्ठ स्थिति का पता था, लेकिन यशोदा को नहीं था। अतएव यशोदा की स्थिति कुन्ती की स्थिति से श्रेष्ठ है। माता यशोदा को भगवान् उनके शिशु-रूप में प्राप्त हुए थे और भगवान् ने उन्हें भुलवा दिया था कि उनका बालक साक्षात् भगवान् है। यदि मातायशोदा को भगवान् की दिव्य स्थिति का पता होता, तो वे अवश्य ही भगवान् को दण्डित करते हुए हिचकतीं। लेकिन उन्हें यह स्थिति भुलवा दी गई, क्योंकि भगवान् ममतामयी यशोदा के समक्ष पूर्ण बाल-चापल्य का भाव प्रदर्शित करना चाहते थे। माता तथा पुत्र के बीच प्रेम का यह आदान-प्रदान सहज रूप में सम्पन्न हुआ और कुन्ती इस दृश्य का स्मरण करके मोहित थीं, क्योंकि वे दिव्य पुत्र-प्रेम की सराहना करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकती थीं? परोक्ष रूप में यशोदा की प्रशंसा उनके प्रेम की दिव्य स्थिति के लिए की जा रही है, क्योंकि वे सर्वशक्तिमान भगवान् को भी अपने प्रिय पुत्र के रूप में वश में कर सकी थीं।

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।

यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कोई; आहुः—कहता है; अजम्—अजन्मा; जातम्—उत्पन्न; पुण्य-श्लोकस्य—महान पुण्यात्मा राजा की; कीर्तये—कीर्ति-विस्तार करने के लिए; यदोः—राजा यदु का; प्रियस्य—प्रिय; अन्ववाये—कुल में; मलयस्य—मलय पर्वत का; इव—सदृश; चन्दनम्—चन्दन।

कुछ कहते हैं कि अजन्मा का जन्म पुण्यात्मा राजाओं की कीर्तिका विस्तार करने के लिए हुआ है और कुछ कहते हैं कि आप अपने परम भक्त राजा यदु को प्रसन्न करने के लिए जन्मे हैं। आप उसके कुल में उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जिस प्रकार मलय पर्वत में चन्दन होता है।

तात्पर्य : चूँकि इस भौतिक जगत में भगवान् का प्राकट्य व्यामोह में डालने वाला है, अतएव अजन्मा के जन्म के विषय में विभिन्न मत हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे सारी सृष्टि के स्वामी तथा अजन्मा हैं, फिर भी वे इस भौतिक जगत में जन्म लेते हैं। अतएव अजन्मा के जन्म से इनकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वयं भगवान् ने इस सत्य को प्रतिष्ठित किया है। फिर भी उनके जन्म को लेकर विभिन्न मत प्रचलित हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी घोषणा हुई है। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से धर्म की स्थापना करने तथा पुण्यात्माओं की रक्षा करने और पापियों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं। उन अजन्मा के प्राकट्य का यही उद्देश्य है। फिर भी यह कहा जाता है कि पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिर की कीर्ति का विस्तार करने के लिए भगवान् आये। निश्चय ही, भगवान् श्रीकृष्ण सारे विश्व के कल्याण हेतु पाण्डवों का राज्य स्थापित करना चाहते थे। जब संसार में पुण्यात्मा राजा शासन करता है, तो लोग सुखी रहते हैं। जब राजा पापी होता है, तो लोग सुखी नहीं रहते। इस कलियुग में, अधिकांश राजा पापी हैं, अतएव नागरिक भी लगातार दुखी रहते हैं। लेकिन प्रजातन्त्र में तो पापी नागरिक अपने प्रतिनिधि का चुनाव स्वयं करते हैं, अतएव वे अपने दुख के लिए किसी अन्य को दोष नहीं दे सकते। महाराज नल भी एक महान पुण्यात्मा राजा के रूप में विख्यात थे, लेकिन उनका भगवान् कृष्ण से कोई वास्ता न था, अतएव यहाँ पर कृष्ण द्वारा महिमामंडित किये जाने में महाराज युधिष्ठिर से ही तात्पर्य है। राजा यदु के कुल में जन्म लेकर भगवान् ने उनकी भी कीर्ति बढ़ायी थी। यद्यपि वे यादव, यदुवीर, यदुनन्दन आदि के नाम से विख्यात हैं, फिर भी भगवान् ऐसे ऋण से निर्लिप्त

रहते हैं। वे उस चन्दन के समान हैं, जो मलय पर्वत में उगता है। वृक्ष तो कहीं भी और सर्वत्र उगते हैं, लेकिन चन्दन का वृक्ष विशेष रूप से मलय पर्वत के क्षेत्र में उगता है, इसलिए चन्दन तथा मलय पर्वत का नाम परस्पर जुड़ा हुआ है। अतएव निष्कर्ष यह निकलता है कि भगवान् सूर्य के समान सदैव अजन्मा हैं, फिर भी वे उसी प्रकार प्रकट होते हैं, जिस प्रकार सूर्य पूर्वी क्षितिज में उदय होता है। जिस प्रकार सूर्य कभी पूर्वी क्षितिज का ही बनकर नहीं रह जाता, उसी तरह भगवान् किसी के पुत्र नहीं, अपितु वे समस्त वस्तुओं के पिता (जनक) हैं।

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।

अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अपरे—अन्य लोग; वसुदेवस्य—वसुदेव का; देवक्याम्—देवकी का; याचितः—प्रार्थना किये जाने पर; अभ्यगात्—जन्म लिया; अजः—अजन्मा; त्वम्—आप; अस्य—इसके; क्षेमाय—कल्याण के लिए; वधाय—वध करने के लिए; च—तथा; सुर-द्विषाम्—देवताओं से ईर्ष्या करनेवालों का।

अन्य लोग कहते हैं कि चूँकि वसुदेव तथा देवकी दोनों ने आपके लिए प्रार्थना की थी, अतएव आप उनके पुत्र-रूप में जन्मे हैं। निस्सन्देह, आप अजन्मा हैं, फिर भी आप देवताओं का कल्याण करने तथा उनसे ईर्ष्या करनेवाले असुरों को मारने के लिए जन्म स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : यह भी कहा जाता है कि भगवान् को पुत्र-रूप में प्राप्त करने के लिए वसुदेव तथा देवकी ने अपने पूर्व-जन्म में सुतपा तथा पृश्नि के रूप में कठिन तपस्या की थी। इसके फलस्वरूप भगवान् उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए। *भगवद्गीता* में पहले ही घोषित किया जा चुका है कि भगवान् संसार के समस्त लोगों का कल्याण करने तथा असुरों या भौतिकतावादी नास्तिकों का विनाश करने के लिए प्रकट होते हैं।

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ ।

सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

भार-अवतारणाय—संसार का भार कम करने के लिए; अन्ये—अन्य लोग; भुवः—संसार का; नावः—नाव; इव—सदृश; उदधौ—समुद्र में; सीदन्त्याः—आर्त, दुखी; भूरि—अत्यधिक; भारेण—भार से; जातः—उत्पन्न; हि—निश्चय ही; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

कुछ कहते हैं कि जब यह संसार, भार से बोझिल समुद्री नाव की भाँति, अत्यधिक पीड़ित हो उठा तथा आपके पुत्र ब्रह्मा ने प्रार्थना की, तो आप कष्ट का शमन करने के लिए अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के पश्चात् तुरन्त उत्पन्न हुए ब्रह्मा प्रथम जीव हैं तथा नारायण के प्रत्यक्ष पुत्र हैं। गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में नारायण सर्वप्रथम भौतिक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुए। आध्यात्मिक सम्पर्क के बिना पदार्थ से सृष्टि नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त का पालन सृष्टि के प्रारम्भ से ही किया जाता रहा है। परम आत्मा ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर गये और विष्णु की दिव्य नाभि से अंकुरित हुए कमल पुष्प से प्रथम जीव ब्रह्मा का जन्म हुआ। इसीलिए विष्णु पद्मनाभ कहलाते हैं। ब्रह्मा आत्म-भू कहलाते हैं, क्योंकि इनका जन्म माता लक्ष्मी से सम्पर्क के बिना साक्षात् अपने पिता से हुआ था। लक्ष्मी जी नारायण के निकट उपस्थित थी और भगवान् की सेवा में तन्मय थीं, तो भी लक्ष्मीजी से सम्पर्क किए बिना ही नारायण ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। यही है भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता। जो व्यक्ति मूर्खतावश नारायण को सामान्य जीवों के समान मानता है, उसे इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नारायण कोई सामान्य जीव नहीं हैं। वे साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनके दिव्य शरीर के सभी अंगों में सभी इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ भरी हुई होती हैं। सामान्य जीव मैथुन द्वारा ही शिशु को जन्म देता है; उसके पास शिशु उत्पन्न करने के लिए उसे प्राप्त साधन से इतर कोई अन्य उपाय नहीं होता। लेकिन सर्वशक्तिमान होने के कारण, नारायण किसी प्रकार की स्थिति या शक्ति से बँधे नहीं हैं। वे पूर्ण हैं और अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा, अत्यन्त सुगमता के साथ तथा पूरी तरह से कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतएव ब्रह्मा अपने पिता से सीधे उत्पन्न हुए हैं; उन्हें माता के गर्भ में नहीं रहना पड़ा। इसीलिए वे आत्म-भू कहलाये। यही ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की अगली सारी सृष्टियों के लिए प्रमारी हैं, जो सर्वशक्तिमान की शक्ति द्वारा गौण रूप में प्रतिबिम्बित हैं। इस ब्रह्माण्ड मण्डल के भीतर श्वेतद्वीप नामक एक

दिव्य ग्रह है, जो क्षीरोदकशायी विष्णु या परमेश्वर के परमात्मा-रूप का धाम है। जब कभी ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा संकट उत्पन्न होता है, जिसे अधिशासी देवता नहीं सुलझा पाते, तब वे इसके निवारण के लिए ब्रह्माजी के पास जाते हैं। यदि ब्रह्माजी भी इसे नहीं सुलझा पाते, तो वे क्षीरोदकशायी विष्णु के पास परामर्श करते हैं, और उनसे अवतार लेकर समस्या का समाधान करने की प्रार्थना करते हैं। ऐसी समस्या कंस तथा अन्य राजाओं के शासन-काल में उत्पन्न हुई और यह पृथ्वी असुरों के दुष्कर्मों से बोझिल हो उठी। तब अन्य देवताओं-समेत ब्रह्मा ने क्षीरोदक सागर के तट पर जाकर प्रार्थना की। तब उन्हें बताया गया कि कृष्ण जी वसुदेव तथा देवकी के पुत्र-रूप में अवतार लेंगे। अतएव कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् का आविर्भाव ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने से हुआ।

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।

श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भवे—भौतिक संसार में; अस्मिन्—इस; क्लिश्यमानानाम्—कष्ट भोगने-वालों का; अविद्या—अज्ञान; काम—इच्छा; कर्मभिः—सकाम कर्म करने के कारण; श्रवण—सुनने; स्मरण—याद करने; अर्हाणि—पूजन; करिष्यन्—कर सकता है; इति—इस प्रकार; केचन—अन्य लोग।

तथा कुछ कहते हैं कि आप श्रवण, स्मरण, पूजन आदि की भक्ति को जागृत करने के लिए प्रकट हुए हैं, जिससे भौतिक कष्टों को भोगनेवाले बद्धजीव इसका लाभ उठाकर मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में धर्म-पंथ की पुनःस्थापना करने के लिए प्रकट होते हैं। यह धर्म-पंथ भगवान् द्वारा निर्मित किया जाता है। कोई भी व्यक्ति नवीन धर्म-पंथ निर्मित नहीं कर सकता, जैसाकि कुछ महत्वाकांक्षी लोगों के लिए यह फैशन बन गई है। वास्तविक धर्म-पंथ यह है कि भगवान् को परम सत्ता के रूप में स्वीकार करके स्वयंस्फूर्त मानकर, प्रगाढ़ प्रेम में उनकी सेवा की जाय। जीव को तो सेवा करनी ही है, क्योंकि स्वभावतः वह इसी के लिए बना है। जीव का एकमात्र कार्य भगवान् की सेवा

करना है। भगवान् महान् हैं और जीव उनके अधीनस्थ हैं। अतएव जीव का कर्तव्य उनकी सेवा करना मात्र है। दुर्भाग्यवश, मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश भौतिक इच्छा के कारण इन्द्रियों के दास बन जाते हैं। यह इच्छा अविद्या या अज्ञान कहलाती है। ऐसी इच्छा से ही जीव विकृत विषयी-जीवन पर केन्द्रित भौतिक भोग के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है। अतएव जीव परमेश्वर की अध्यक्षता में, विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीरों में देहान्तर करते हुए, जन्म-मृत्यु के चक्र में फँस जाता है। अतएव जब तक कोई इस अविद्या की परिधि से बाहर नहीं निकल लेता, तब तक वह जीवन के त्रिविध तापों से मुक्त नहीं हो सकता। यही प्रकृति का नियम है।

फिर भी भगवान् कष्ट भोगनेवाले जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपावश उनके समक्ष प्रकट होकर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, स्तवन, आत्मनिवेदन तथा शरणागति से युक्त भक्ति के सिद्धान्तों को जागृत करते हैं, क्योंकि वे कष्ट भोग रहे जीवों पर इतने अधिक कृपालु हैं कि जितनी जीव आशा भी नहीं रखते। उपर्युक्त में से सारी विधियों या किसी एक विधि को ग्रहण करने से बद्धजीव अविद्या के बन्धन से छूट कर बहिरंगा शक्ति के द्वारा भरमाए गये समस्त भौतिक कष्टों से मुक्त हो जाता है। जीवों पर इस प्रकार की कृपा भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में भगवान् द्वारा प्रदान की गई है।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्षणशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; गृणन्ति—ग्रहण करते हैं; अभीक्षणशः—निरन्तर; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; नन्दन्ति—हर्षित होते हैं; तव—आपके; ईहितम्—कार्य-कलापों को; जनाः—लोग; ते—वे; एव—निश्चय ही; पश्यन्ति—देख सकते हैं; अचिरेण—शीघ्र ही; तावकम्—आपका; भव-प्रवाह—पुनर्जन्म की धारा; उपरमम्—बन्द होना, रोकना; पद-अम्बुजम्—चरणकमल।

हे कृष्ण, जो आपके दिव्य कार्यकलापों का निरन्तर श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करते हैं या दूसरों को ऐसा करते देखकर हर्षित होते हैं, वे निश्चय ही आपके उन चरणकमलों का दर्शन करते हैं, जो जन्म-मृत्यु के पुनरागमन को रोकनेवाले हैं।

तात्पर्य : भगवान् श्रीकृष्ण हमारी इस बद्ध भौतिक दृष्टि से नहीं देखे जा सकते। उनका दर्शन पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के स्वजात प्रगाढ़ प्रेम से युक्त, भिन्न प्रकार की जीवन-अवस्था का विकास करके अपनी वर्तमान दृष्टि को बदलना होगा। जब श्रीकृष्ण इस धराधाम में सशरीर विद्यमान थे, तो सभी लोग उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में नहीं देख सके। रावण, हिरण्यकशिपु, कंस, जरासन्ध तथा शिशुपाल जैसे भौतिकतावादी भौतिक सम्पत्ति अर्जित करके उच्च योग्यताधारी व्यक्ति बन गये थे, लेकिन वे भगवान् की उपस्थिति को समझ पाने में असमर्थ थे। अतएव भले ही भगवान् हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित क्यों न हों, जब तक हमारे पास अपेक्षित दृष्टि नहीं होती, तब तक उनको देख पाना असम्भव है। यह अपेक्षित योग्यता एकमात्र भक्तिमय सेवा द्वारा उत्पन्न होती है, जिसका शुभारम्भ उचित स्रोत से भगवान् के विषय में श्रवण करने से होता है। *भगवद्गीता* ऐसा लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसे सामान्य लोग सुनते, गाते तथा बारम्बार पढ़ते हैं, लेकिन कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि ऐसी भक्ति सम्पन्न करनेवाला व्यक्ति भगवान् का साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता। इसका कारण यह है कि श्रवण नामक पहली विधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि श्रवण सही स्रोत से किया जाय, तो इसका प्रभाव तुरन्त पड़ता है। सामान्यतया लोग अनधिकृत व्यक्तियों से श्रवण करते हैं। ऐसे अनधिकृत व्यक्ति शैक्षणिक योग्यताओं में भले ही प्रकाण्ड विद्वान हों, किन्तु उनके द्वारा भक्ति के सिद्धान्तों का पालन न किए जाने के कारण उनसे श्रवण करना केवल समय का अपव्यय ही होगा। कभी-कभी मूल पाठ की व्याख्या कलात्मक ढंग से इस तरह की जाती है, जिससे वे अपना खुद का हेतु सिद्ध कर सके। अतएव सर्वप्रथम सक्षम तथा योग्य वक्ता चुनना होगा और तब उससे ही श्रवण करना होगा। जब श्रवण-विधि पूर्ण तथा पक्की हो जाती है, तो अन्य विधियाँ स्वतः ही पूरी हो जाती हैं।

भगवान् के अनेक दिव्य कार्यकलाप हैं और इनमें से हर एक से वांछित फल प्राप्त हो सकता है, बशर्ते कि श्रवण-विधि परिपूर्ण हो। *भागवत* में भगवान् के कार्यकलाप पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से प्रारम्भ होते हैं। असुरों तथा अन्यों के साथ बर्ताव के सम्बन्ध में भी भगवान् की अन्य अनेक लीलाएं हैं। और दसवें स्कन्ध में उनकी प्रिय गोपिकाओं के साथ ही साथ द्वारका में उनकी अपनी पत्नियों के साथ के व्यवहार का वर्णन है। चूँकि भगवान् परम अवस्था में हैं, अतएव उनके प्रत्येक व्यवहार के दिव्य स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन कभी-कभी लोग अनधिकृत श्रवण करते समय, गोपियों के साथ भगवान् के व्यवहार (क्रीड़ाओं) में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसी मनोवृत्ति श्रोता के कामुक विचारों की सूचक है। अतएव भगवान् की क्रीड़ाओं का प्रामाणिक वक्ता कभी भी ऐसी बातें सुनाने में उलझता नहीं। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के विषय में प्रारम्भ से ही *श्रीमद्भागवत* या अन्य शास्त्रों से श्रवण करे। इससे श्रोता को उत्तरोत्तर पूर्णता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि गोपियों के साथ भगवान् का व्यवहार पाण्डवों के साथ उनके व्यवहार से कम महत्त्वपूर्ण है। हमें यह सदा स्मरण में रखना चाहिए कि भगवान् सदैव समस्त संसारी आसक्ति से परे रहने वाले हैं। उपर्युक्त समस्त आचरणों में वे ही नायक हैं और उनके विषय में या उनके भक्तों या उनके प्रतियोद्धाओं के विषय में श्रवण करना आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल है। ऐसा कहा जाता है कि सारे वेद, पुराण इत्यादि भगवान् से हमारे विसरे हुए सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने के लिए हैं। इन सभी शास्त्रों को सुनना आवश्यक है।

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अपि—यदि; अद्य—आज; नः—हमको; त्वम्—आप; स्व-कृत—अपने आप सम्पन्न; ईहित—सारे कर्म; प्रभो—हे मेरे प्रभु; जिहाससि—त्यागते हो; स्वित्—सम्भवतः; सुहृदः—घनिष्ठ मित्र; अनुजीविनः—दया पर निर्भर; येषाम्—जिनका;

न—न तो; च—तथा; अन्यत्—कोई अन्य; भवतः—आपके; पद-अम्बुजात्—चरणकमलों से; परायणम्—आश्रित;
राजसु—राजाओं के प्रति; योजित—लगे हुए; अंहसाम्—शत्रुता।

हे मेरे प्रभु, अपने सारे कर्तव्य स्वयं पूरे कर दिये हैं। आज जब हम आपकी कृपा पर पूरी तरह आश्रित हैं और जब हमारा और कोई रक्षक नहीं है और जब सारे राजा हमसे शत्रुता किये हुए हैं, तो क्या आप हमें छोड़कर चले जायेंगे?

तात्पर्य : पाण्डव अत्यन्त भाग्यशाली थे, क्योंकि सौभाग्यवश वे भगवान् की कृपा पर पूरी तरह आश्रित थे। भौतिक जगत में, किसी की दया पर आश्रित होना घोर दुर्भाग्य का चिह्न होता है, लेकिन भगवान् के साथ जहाँ तक हमारे दिव्य सम्बन्ध की बात है, तो जब हम भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित होते हैं, तब यह हमारा परम सौभाग्य होता है। भौतिक रोग का कारण सबसे सर्वथा स्वतन्त्र बनने का विचार है। लेकिन क्रूर भौतिक प्रकृति हमें स्वतन्त्र नहीं बनने देती। प्रकृति के कठोर नियमों से स्वतन्त्र होने के मिथ्या प्रयास को, प्रयोगात्मक ज्ञान की भौतिक उन्नति माना जाता है। प्रकृति के नियमों से स्वतन्त्र बनने के इस मिथ्या प्रयास के फलस्वरूप सारा ही भौतिक जगत गतिशील है। स्वर्गलोक तक सीधी सीढ़ी तैयार करने के इच्छुक रावण से लेकर वर्तमान युग तक, सभी लोग प्रकृति के नियमों पर विजय पाने का प्रयास कर रहे हैं। अब वे लोग इलेक्ट्रॉनिक यान्त्रिक शक्ति से सुदूर लोकों तक पहुँचना चाह रहे हैं। लेकिन मानव सभ्यता का सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के मार्गदर्शन में कठिन श्रम करना तथा पूर्ण रूप से उन्हीं पर आश्रित हो जाना है। पूर्ण सभ्यता की चरम उपलब्धि, वीरतापूर्वक कार्य करते हुए, भगवान् पर पूर्ण रूप से आश्रित रहना है। पाण्डव-जन सभ्यता के इस मानक के आदर्श पालक थे। निस्सन्देह वे भगवान् श्रीकृष्ण की सदिच्छा पर पूर्ण रूप से आश्रित थे, लेकिन वे भगवान् पर आश्रित रहनेवाले आलसी परजीवियों जैसे न थे। वे सभी व्यक्तिगत आचरण तथा भौतिक कार्यों में परम योग्य थे। तो भी वे भगवान् के कृपाकांक्षी थे, क्योंकि वे जानते थे कि प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण आश्रित है। अतएव जीवन की पूर्णता इसी में है कि भौतिक जगत में झूठे ही स्वतन्त्र होने के बजाय, परमेश्वर की इच्छा पर आश्रित रहा जाय। जो लोग झूठे ही भगवान् से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, वे *अनाथ* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि उनका कोई संरक्षक नहीं है, किन्तु जो

भगवद्-इच्छा पर पूरी तरह से आश्रित रहते हैं, वे *सनाथ* कहलाते हैं, अर्थात् उनका कोई संरक्षक है। अतएव हमें सदैव *सनाथ* बनने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे हम इस भौतिक अस्तित्व की प्रतिकूल परिस्थितियों से सुरक्षित रह सकें। बाह्य भौतिक प्रकृति की भ्रामक शक्ति के कारण हम यह भूल जाते हैं कि जीवन की भौतिक दशा अत्यन्त अवांछनीय उलझन है। अतएव *भगवद्गीता* (७.१९) हमें निर्देश करती है कि अनेकानेक जन्मों के पश्चात् ही कोई भाग्यशाली व्यक्ति इस तथ्य से अवगत हो पाता है कि वासुदेव ही सर्वोसर्वा हैं और जीवन जीने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि पूर्ण रूप से भगवान् के शरणागत हुआ जाय। यही एक *महात्मा* का लक्षण होता है। पाण्डव परिवार के सारे सदस्य गृहस्थ जीवन में महात्मा थे। महाराज युधिष्ठिर इन महात्माओं में अग्रणी थे और महारानी कुन्ती देवी इनकी माता थीं। अतएव *भगवद्गीता* तथा समस्त पुराण और उनमें से विशेष रूप से *भागवतपुराण* की शिक्षाएँ अनिवार्यतः पाण्डव महात्माओं के इतिहास से जुड़ी हुई हैं। उनके लिए भगवान् का विछोह वैसे ही था, जैसे मछली का जल से विलग होना। अतएव कुन्ती देवी को ऐसा विछोह वज्रपात-सदृश प्रतीत हुआ। इसीलिए उनकी सारी प्रार्थना भगवान् को अपने साथ रहने के लिए राजी करने के लिए प्रयास है। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, यद्यपि सारे शत्रु राजा मारे जा चुके थे, लेकिन उनके पुत्र तथा पौत्र पाण्डवों से निपटने के लिए अभी भी जीवित थे। ऐसा नहीं है कि पाण्डवों को ही ऐसी शत्रुता का सामना करना पड़ा हो, अपितु हम सभी सदा ऐसी स्थिति में रहते हैं। अतएव जीने के लिए सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवदिच्छा पर आश्रित रहा जाय और संसार की सभी आपदाओं से पार पाया जाय।

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।

भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

के—कौन हैं; वयम्—हम; नाम-रूपाभ्याम्—ख्याति तथा सामर्थ्यरहित; यदुभिः—यदुओं के; सह—साथ; पाण्डवाः— तथा पाण्डवगण; भवतः—आपकी; अदर्शनम्—अनुपस्थिति; यर्हि—मानो; हृषीकाणाम्—इन्द्रियों का; इव—सदृश; ईशितुः—जीव का।

जिस तरह आत्मा के अदृश्य होते ही शरीर का नाम तथा यश समाप्त हो जाता है, उसी तरह यदि आप हमारे ऊपर कृपा-दृष्टि नहीं करेंगे, तो पाण्डवों तथा यदुओं समेत हमारा यश तथा गतिविधियाँ तुरन्त ही नष्ट हो जाएँगी।

तात्पर्य : कुन्ती देवी को पूरी तरह ज्ञात है कि पाण्डवों का अस्तित्व एक-मात्र श्रीकृष्ण के कारण है। निस्सन्देह, पाण्डव अपने नाम तथा ख्याति में पूरी तरह प्रतिष्ठित थे और धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर द्वारा उनका मार्गदर्शन हो रहा था; यदुगण मित्र थे, लेकिन श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन के बिना उन सबका कोई अस्तित्व नहीं था, जिस प्रकार चेतना के बिना शरीर की सारी इन्द्रियाँ व्यर्थ रहती हैं। किसी को भी परमेश्वर की कृपा द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त किये बिना अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति तथा यश का गर्व नहीं होना चाहिए। जीव सदैव आश्रित हैं और अनन्तिम आश्रयदाता भगवान् स्वयं ही हैं। अतएव, भले ही हम अपने भौतिक ज्ञान की उन्नति द्वारा, कितने ही प्रतिगामी भौतिक साधन क्यों न जुटा लें, लेकिन भगवान् के मार्गदर्शन बिना ऐसे सारे आविष्कार, चाहे वे कितने प्रबल एवं प्रतिक्रियाकारी क्यों न हों, बंटाधार हो जाते हैं।

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।

त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इयम्—यह हमारा राज्य; शोभिष्यते—सुन्दर लगेगा; तत्र—तब; यथा—जैसा अब है, इस रूप में; इदानीम्—कैसे; गदाधर—हे कृष्ण; त्वत्—आपके; पदैः—चरणों के द्वारा; अङ्किता—अंकित; भाति—शोभायमान हो रही है; स्व-लक्षण—आपके चिह्नों से; विलक्षितैः—चिह्नों से।

हे गदाधर (कृष्ण), इस समय हमारे राज्य में आपके चरण-चिह्नों की छाप पड़ी हुई है, और इसके कारण यह सुन्दर लगता है, लेकिन आपके चले जाने पर यह ऐसा नहीं रह जायेगा।

तात्पर्य : भगवान् के चरणों में कुछ विशिष्ट चिह्न होते हैं, जिनके कारण वे अन्यो से भिन्न हैं। भगवान् के चरणतल (तलवे) में ध्वजा, वज्र, अंकुश, छत्र, कमल, चक्र आदि चिह्न बने रहते हैं। जहाँ-जहाँ भगवान् चलते हैं, वहाँ की नरम भूमि की रज पर ये चिह्न अंकित होते जाते हैं।

अतएव जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ रह रहे थे, तो हस्तिनापुर की भूमि इस प्रकार से अंकित हो गई थी और इन शुभ चिह्नों के कारण पाण्डवों का राज्य फूल-फल रहा था। कुन्ती देवी ने इन प्रतिष्ठित लक्षणों की ओर संकेत किया और वे भगवान् की अनुपस्थिति में दुर्भाग्य के प्रति भयातुर थी।

इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्रौषधिवीरुधः ।

वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमे—ये सब; जन-पदाः—नगर तथा शहर; स्वृद्धाः—समृद्ध; सुपक्र—पूर्ण रूप से पक्व; औषधि—जड़ी-बूटी; वीरुधः—वनस्पतियाँ; वन—जंगल; अद्रि—पहाड़ियाँ; नदी—नदियाँ; उदन्वन्तः—समुद्र; हि—निश्चय ही; एधन्ते—वृद्धि करते हुए; तव—आपके; वीक्षितैः—देखने से।

ये सारे नगर तथा ग्राम सब प्रकार से समृद्ध हो रहे हैं, क्योंकि जड़ी-बूटियों तथा अन्नों की प्रचुरता है, वृक्ष फलों से लदे हैं, नदियाँ बह रही हैं, पर्वत खनिजों से तथा समुद्र सम्पदा से भरे पड़े हैं। और यह सब उन पर आपकी कृपा-दृष्टि पड़ने से ही हुआ है।

तात्पर्य : मानव-सम्पन्नता प्राकृतिक उपहारों से बढ़ती है, न कि विशाल औद्योगिक उद्यमों से। ये विशाल औद्योगिक संस्थान ईश्वरविहीन सभ्यता के प्रतिफल हैं और वे मानव जीवन के कल्याणकारी उद्देश्यों का विनाश करनेवाले हैं। मनुष्य की प्राण-शक्ति को निचोड़ देने वाले इन कष्टप्रद उद्योगों को जितना ही अधिक बढ़ाया जायेगा, जनसामान्य में उतना ही अधिक असन्तोष फैलेगा, भले ही कुछ लोग इस शोषण द्वारा ठाठ-बाट से रह लें। अन्न, वनस्पतियाँ, फल, नदियाँ, रत्नों तथा खनिजों से पूर्ण पर्वत तथा मुक्ताओं से भरे हुए समुद्र—ये सब प्राकृतिक वरदान हैं, जिनकी पूर्ति परमेश्वर के आदेश से होती है और उनकी इच्छा के अनुसार ही प्रकृति उन्हें प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करती है या उनका अभाव ला देती है। प्राकृतिक नियम ऐसा है कि मनुष्य इन ईश्वरप्रदत्त वरदानों का लाभ उठाये तथा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने के उद्देश्य से शोषण की प्रवृत्ति छोड़कर, सन्तोष धारण करके समृद्ध बने। अपनी भोगवादी लालसा से हम प्रकृति का शोषण जितना अधिक करने का प्रयास करेंगे, ऐसी शोषणकारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया द्वारा हम उतने ही

अधिक फँसते जायेंगे। यदि हमारे पास प्रचुर मात्रा में अन्न, फल, शाक-सब्जी तथा औषधियाँ हैं, तो फिर कसाई घर चलाने और दीन पशुओं का वध करने की क्या जरूरत है? मनुष्य को पशु-वध करने की आवश्यकता नहीं है, यदि उसके पास खाने के लिए प्रचुर अन्न तथा शाक-सब्जी है। नदियों का बहता जल खेतों को उपजाऊ बनाता है और हमारी आवश्यकता से अधिक जल उपलब्ध है। पर्वतों से खनिज तथा समुद्रों से रत्न प्राप्त होते हैं। यदि मानव समाज के पास प्रचुर अन्न, खनिज, रत्न, जल, दुग्ध इत्यादि हो, तो फिर उसे क्या आवश्यकता है कि वह कुछ लाचार मनुष्यों के श्रम पर भयंकर औद्योगिक संस्थानों के पीछे भागता फिरे? लेकिन ये सारे प्राकृतिक उपहार भगवत्कृपा पर निर्भर हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम भगवान् के नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनें और भक्तिमय सेवा के द्वारा मनुष्य-जीवन की पूर्णता प्राप्त करें। कुन्ती देवी के द्वारा किये गये संकेत बिल्कुल सटीक हैं। वे चाहती हैं कि उन पर भगवान् की कृपा-दृष्टि बनी रहे, जिससे प्राकृतिक सम्पन्नता स्थापित रहे।

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे ।

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; विश्व-ईश—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-आत्मन्—हे ब्रह्माण्ड के आत्मा; विश्व-मूर्ते—हे विश्व-रूप; स्वकेषु—मेरे स्वजनों में; मे—मेरे; स्नेह-पाशम्—स्नेह बन्धन को; इमम्—इस; छिन्धि—काट डालो; दृढम्—कड़े; पाण्डुषु—पाण्डवों के लिए; वृष्णिषु—वृष्णियों के लिए भी।

अतः हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड के आत्मा, हे विश्व-रूप, कृपा करके मेरे स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति मेरे स्नेह-बन्धन को काट डालें।

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् से अपने लिए कुछ भी माँगने में लजाता है। लेकिन गृहस्थों को कभी-कभी बाध्य होकर भगवान् से कुछ कथा की याचना करनी पड़ती है, क्योंकि वे पारिवारिक स्नेह की ग्रंथि से बँधे होते हैं। श्रीमती कुन्ती देवी इस तथ्य से सचेत थीं, अतएव उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि वे उनके स्वजनों, पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रेमपाश को काट दें। पाण्डव उनके अपने पुत्र थे और वृष्णि उनके पितृ-कुल के सदस्य थे। कृष्ण इन दोनों

परिवारों से समान रूप से सम्बन्धित थे। दोनों ही परिवारों को भगवान् की सहायता की आवश्यकता थी, क्योंकि दोनों ही भगवान् के आश्रित भक्त थे। श्रीमती कुन्ती देवी की इच्छा थी कि श्रीकृष्ण उनके पुत्रों, अर्थात् पाण्डवों के साथ रहें, लेकिन कृष्ण के ऐसा करने से कुन्ती के पितृ-कुल के लोग इस लाभ से वंचित रह जाते। यह सब पक्षपात कुन्ती के मन को दुख देनेवाला था, अतएव उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि यह स्नेह-बन्धन विच्छिन्न हो जाय।

शुद्ध भक्त अपने परिवार के सीमित स्नेह-बन्धन को विच्छिन्न करके समस्त विस्मृत आत्माओं के लिए अपनी भक्तिमय सेवा का विस्तार करता है। इसके जीवन्त उदाहरण षड् गोस्वामी हैं, जिन्होंने भगवान् चैतन्य के पथ का अनुसरण किया। वे सभी अत्यन्त प्रबुद्ध एवं सुसंस्कृत धनी, सवर्ण जातियों के थे, लेकिन जनसाधारण के कल्याण के लिए वे अपने-अपने साधनयुक्त घरों को त्याग कर संन्यासी बन गये। समस्त पारिवारिक स्नेह को छिन्न करने का अर्थ है कार्यक्षेत्र को विस्तृत करना। ऐसा किये बिना कोई न तो ब्राह्मण बनने के योग्य हो सकता है, न राजा, न जनता का नेता, न भगवद्भक्त। भगवान् ने आदर्श राजा के रूप में इसका दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। श्री रामचन्द्र ने आदर्श राजा के गुणों को प्रकट करने के लिए अपनी प्रिय पत्नी से स्नेह-बन्धन छिन्न कर लिया था।

ब्राह्मण, भक्त, राजा या जननेता को अपने-अपने कर्तव्य पालन में उदारचेता होना चाहिए। श्रीमती कुन्तीदेवी इस तथ्य से अवगत थीं और अबला होने के कारण, उन्होंने पारिवारिक स्नेह के बन्धन को विच्छिन्न कर देने के लिए प्रार्थना की। भगवान् को विश्वेश या विश्वात्मा कहकर सम्बोधित किया गया है, जो पारिवारिक प्रेम की कठिन ग्रंथि को काटने में उनकी सर्वशक्तिमयी क्षमता को बतानेवाला है। इसीलिए कभी-कभी ऐसा अनुभव किया जाता है कि निर्बल भक्त के प्रति विशेष आकर्षण के कारण, भगवान् अपनी अपार शक्ति द्वारा नियोजित परिस्थितियों द्वारा पारिवारिक स्नेह को छिन्न करते हैं। ऐसा करके वे भक्त को अपने ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित बनाकर उसके भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग साफ कर देते हैं।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।

रतिमुद्रहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—आप में; मे—मेरा; अनन्य-विषया—अनन्य; मतिः—ध्यान; मधु-पते—हे मधु के स्वामी; असकृत्—निरन्तर;
रतिम्—आकर्षण; उद्रहतात्—आप्लावित हो सकता है; अद्धा—प्रत्यक्ष रीति से; गङ्गा—गंगानदी; इव—सदृश;
ओघम्—बहती है; उदन्वति—समुद्र को।

हे मधुपति, जिस प्रकार गंगा नदी बिना किसी व्यवधान के सदैव समुद्र की ओर बहती है, उसी प्रकार मेरा आकर्षण अन्य किसी ओर न बँट कर आपकी ओर निरन्तर बना रहे।

तात्पर्य : शुद्ध भक्तिमय सेवा की पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब सारा ध्यान भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा की ओर लगा रहता है। अन्य सारे स्नेह-बन्धनों को छिन्न करने का अर्थ किसी दूसरे से स्नेह जैसे सूक्ष्म भावों का पूर्ण निषेध नहीं होता। ऐसा सम्भव नहीं है। चाहे कोई भी जीव क्यों न हो, उसमें दूसरों के प्रति स्नेह की भावना होती ही है, क्योंकि यह जीवन का एक लक्षण है। इच्छा, क्रोध, लोभ, आकर्षण जैसे जीवन के लक्षणों को विनष्ट नहीं किया जा सकता। केवल इसके उद्देश्य को बदलना होता है। इच्छा को कभी नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन भक्तियोग में इच्छा को इन्द्रियतृप्ति के स्थान पर भगवान् की सेवा में लगाना होता है। परिवार, समाज, देश इत्यादि के प्रति तथाकथित स्नेह इन्द्रियतृप्ति की विभिन्न अवस्थाओं के सिवा अन्य कुछ नहीं है। जब इस इच्छा को भगवान् की संतुष्टि के हेतु बदल दिया जाता है, तब यह भक्ति कहलाती है।

भगवद्गीता में हम देख सकते हैं कि अर्जुन अपनी खुदकी इच्छाओं की तुष्टि के लिए ही अपने भाइयों तथा सम्बन्धियों से नहीं लड़ना चाह रहा था। लेकिन जब उसने भगवान् का सन्देश अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता सुनी, तो उसने अपना निर्णय बदल दिया और भगवान् की सेवा की। ऐसा करने के कारण वह भगवान् का विख्यात भक्त बन गया, क्योंकि सारे शास्त्रों में घोषित किया गया है कि भगवान् से मित्रता भाव में अर्जुन ने भक्तिमय सेवा के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की। युद्ध हो रहा था, मित्रता भी चल रही थी, वहाँ पर अर्जुन था तथा कृष्ण भी वहाँ पर थे, लेकिन भक्तिमय सेवा के कारण अर्जुन सर्वथा भिन्न व्यक्ति बन गया। अतएव कुन्ती की प्रार्थनाएँ

भी कार्यों में वैसे ही परिवर्तन का संकेत करती हैं। श्रीमती कुन्ती विचलित हुए बिना भगवान् की सेवा करना चाह रही थीं और यही उनकी प्रार्थना थी। यह अनन्य भक्ति (निष्ठा) ही जीवन का परम लक्ष्य है। सामान्य रूप से हमारा ध्यान ऐसी वस्तु की सेवा की ओर विचलित हो जाता है, जो ईश्वर से इतर होती है अथवा भगवान् की योजना में नहीं होती है। जब यह योजना भगवान् की सेवा में बदल जाती है अर्थात् जब भगवान् की सेवा से इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब यह सेवा शुद्ध अनन्य भक्ति कहलाती है। श्रीमती कुन्तीदेवी को इसी पूर्णता की कामना थी और वे भगवान् से इसी के लिए प्रार्थना कर रही थीं।

पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति उनका स्नेह भक्ति की परिधि से बाहर नहीं है, क्योंकि भगवान् की सेवा तथा भक्तों की सेवा अभिन्न हैं। कभी-कभी भक्त की सेवा भगवान् की सेवा से भी बढ़कर होती है। लेकिन यहाँ पर पाण्डवों तथा वृष्णियों के प्रति कुन्तीदेवी का स्नेह पारिवारिक सम्बन्ध के कारण था। भौतिक सम्बन्ध के प्रसंग में यह स्नेह-बन्धन माया का सम्बन्ध होता है, क्योंकि शरीर अथवा मन के सम्बन्ध बहिरंगा शक्ति के प्रभाव के कारण होते हैं। परमात्मा के प्रति स्थापित किये जाने पर आत्मा के सम्बन्ध यथार्थ सम्बन्ध होते हैं। कुन्ती देवी द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध छिन्न करने का अभिप्राय यह था कि वे रक्त के सम्बन्ध को छिन्न करना चाह रही थीं। यह रक्त सम्बन्ध भव-बन्धन का कारण है, लेकिन आत्मा का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का कारण है। आत्मा से आत्मा का यह सम्बन्ध परमात्मा के साथ सम्बन्ध के माध्यम से स्थापित किया जा सकता है। अँधेरे में देखना कोई देखना नहीं है। लेकिन सूर्यप्रकाश में देखने का अर्थ है सूर्य को देखना तथा इसके अलावा वह सब कुछ भी देखना जो अंधकार में अनदेखा रह गया था। यही भक्ति योग का मार्ग है।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णयुषभावनिधुग्
 राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
 गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
 योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कृष्ण—हे कृष्ण; कृष्ण-सख—हे अर्जुन के मित्र; वृष्णि—वृष्णि कुल के; ऋषभ—हे प्रमुख; अग्नि—पृथ्वी; धृक्—विप्लवी; राजन्य-वंश—राजाओं का वंश; दहन—हे विनाशकर्ता; अनपवर्ग—बिना अवनति के; वीर्य—पराक्रम; गोविन्द—हे गोलोक के स्वामी; गो—गौवों के; द्विज—ब्राह्मणों के; सुर—देवताओं के; अर्ति-हर—दुख दूर करने के लिए; अवतार—हे अवतार लेनेवाले; योग-ईश्वर—हे योग के स्वामी; अखिल—सम्पूर्ण जगत के; गुरो—हे गुरु; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; नमः ते—आपको नमस्कार है।

हे कृष्ण, हे अर्जुन के मित्र, हे वृष्णिकुल के प्रमुख, आप उन समस्त राजनीतिक पक्षों के विध्वंसक हैं, जो इस धरा पर उपद्रव फैलानेवाले हैं। आपका शौर्य कभी क्षीण नहीं होता। आप दिव्य धाम के स्वामी हैं और आप गायों, ब्राह्मणों तथा भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिए अवतरित होते हैं। आपमें सारी योग-शक्तियाँ हैं और आप समस्त विश्व के उपदेशक (गुरु) हैं। आप सर्वशक्तिमान ईश्वर हैं। मैं आपको सादर प्रणाम करती हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीमती कुन्तीदेवी ने परम भगवान् श्रीकृष्ण का सार प्रस्तुत किया है। सर्वशक्तिमान भगवान् का अपना नित्य दिव्य धाम है, जहाँ वे सुरभी गायों के पालन में व्यस्त रहते हैं। वहाँ सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। वे इस भौतिक जगत् में अपने भक्तों को उबारने तथा राजनीतिक दलों के उपद्रवकारी तत्त्वों एवं उपद्रवकारी शासकों को विनष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। वे अपनी असीम शक्तियों से सृजन, पालन तथा संहार करते हैं, फिर भी वे सदैव शौर्य से पूर्ण रहते हैं और उनकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। वे गायों, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों पर विशेष ध्यान देते हैं, क्योंकि जीवों के सामान्य कल्याण के लिए ये महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः ।

मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; पृथया—पृथा (कुन्ती) द्वारा; इत्थम्—यह; कल-पदैः—चुने हुए शब्दों द्वारा; परिणूत—पूजित होकर; अखिल—सम्पूर्ण; उदयः—यश; मन्दम्—मन्द-मन्द; जहास—मुस्कराये; वैकुण्ठः—भगवान्; मोहयन्—मोहित करते हुए; इव—सदृश; मायया—अपनी योगशक्ति के द्वारा।

सूत गोस्वामी ने कहा : इस प्रकार भगवान् अपने महिमागान के लिए चुने हुए शब्दों में कुन्तीदेवी के द्वारा की गई प्रार्थना सुनकर मन्द-मन्द मुसकाए। यह मुस्कान उनकी योगशक्ति के समान ही मोहक थी।

तात्पर्य : इस जगत में जो भी वस्तु मोहक होती है, वह भगवान् की अभिव्यक्ति कहलाती है। इस भौतिक जगत् पर प्रभुत्व जताने में प्रवृत्त बद्धजीव भी उनकी योगशक्ति से मोहित होते रहते हैं, लेकिन भगवान् के भक्त भगवान् की महिमा से भिन्न प्रकार से मोहित होते हैं और भगवान् का कृपापूर्ण आशीर्वाद उन्हें प्राप्त होता रहता है। उनकी शक्ति का प्रदर्शन भिन्न प्रकार से होता है, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति विविध क्षमताओं में कार्य करती है। श्रीमती कुन्ती ने भगवान् की प्रार्थना में उनकी महिमा का मात्र एक अल्पांश का कथन किया है। उनके सारे भक्त इसी प्रकार से चुने हुए शब्दों से उनकी पूजा करते हैं, और इसी कारण भगवान् उत्तम श्लोक कहे जाते हैं। यद्यपि भगवान् की महिमा का वर्णन चुने हुए शब्दों से कितना ही क्यों न किया जाये, तथापि वह पर्याप्त नहीं है, फिर भी वे ऐसी प्रार्थनाओं से उसी प्रकार तुष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार पिता अपने छोटे से बच्चे की तोतली बोली से प्रसन्न हो जाता है। *माया* शब्द का प्रयोग भ्रम तथा कृपा दोनों अर्थों में होता है, लेकिन यहाँ पर यह शब्द कुन्तीदेवी पर भगवान् की कृपा के लिए व्यवहृत हुआ है।

तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।

स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उन सबों को; बाढम्—स्वीकृत; इति—इस प्रकार; उपामन्त्र्य—बाद में सूचित करके; प्रविश्य—प्रवेश करके; गजसाह्वयम्—हस्तिनापुर के महल में; स्त्रियः च—अन्य स्त्रियाँ; स्व-पुरम्—अपने निवास; यास्यन्—बिदा होते समय; प्रेम्णा—प्रेमपूर्वक; राज्ञा—राजा द्वारा; निवारितः—रोके गये।

इस तरह श्रीमती कुन्तीदेवी की प्रार्थनाएं स्वीकार करने के बाद भगवान् ने हस्तिनापुर के राजमहल में प्रवेश करके अन्य स्त्रियों को अपने प्रस्थान की सूचना दी। लेकिन उन्हें

प्रस्थान करते देख, राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोक लिया और अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे याचना की।

तात्पर्य : जब भगवान् ने द्वारका जाने का निश्चय कर लिया, तो कोई भी उन्हें हस्तिनापुर में नहीं रोक सकता था, लेकिन राजा युधिष्ठिर का यह सरल अनुरोध कि वे कुछ दिनों तक और रह जाँए, इसका तत्काल प्रभाव पड़ा। इससे पता चलता है कि राजा युधिष्ठिर की शक्ति प्रेमयुक्त स्नेह की थी जिसे भगवान् इनकार नहीं कर सके। इस प्रकार सर्वशक्तिमान भगवान् केवल प्रेममयी सेवा से जीते जाते हैं, अन्य किसी प्रकार से नहीं। वे अपने समस्त व्यवहारों में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं, लेकिन अपने शुद्ध भक्तों के स्निग्ध प्रेम का ऋण वे स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

व्यास-आद्यैः—व्यास इत्यादि मुनियों द्वारा; ईश्वर—सर्वशक्तिमान ईश्वर; ईहा—की इच्छा से; ज्ञैः—विद्वान्; कृष्णेन—स्वयं कृष्ण द्वारा; अद्भुत-कर्मणा—अद्भुत कार्य करनेवाले के द्वारा; प्रबोधितः—ढाढस बँधाने पर; अपि—यद्यपि; इतिहासैः—इतिहास के साक्ष्यों द्वारा; न—नहीं; अबुध्यत—संतुष्ट हुए; शुचा अर्पितः—दुखी।

अत्यधिक शोक में डूबे हुए राजा युधिष्ठिर, व्यास आदि मुनियों तथा अद्भुत कर्म करनेवाले साक्षात् भगवान् कृष्ण के उपदेशों से तथा समस्त ऐतिहासिक साक्ष्य से सान्त्वना नहीं पा सके।

तात्पर्य : अपने लिए कुरुक्षेत्र के युद्ध में मनुष्यों के सामूहिक रक्तपात से पुण्यात्मा राजा युधिष्ठिर अत्यन्त खिन्न थे। उस समय दुर्योधन सिंहासन पर आरूढ़ था और वह ठीक से शासन चला रहा था। एक तरह से देखा जाये तो युद्ध करने की कोई आवश्यकता न थी। लेकिन न्याय के सिद्धान्त की दृष्टि से युधिष्ठिर को सिंहासन सम्हालना था। सारी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु यही था और सारे विश्व के राजा तथा निवासी इन दो प्रतिद्वन्दी भाइयों की लड़ाई में उलझ गये। भगवान् कृष्ण भी राजा युधिष्ठिर की ओर थे। *महाभारत के आदि पर्व (२०)* में कहा गया है कि

कुरुक्षेत्र के अठारह दिनों के युद्ध में चौंसठ करोड़ लोग मारे गये और कई लाख लापता हो गये। एक तरह से, विगत पाँच हजार वर्षों में यह विश्व का भिषणतम युद्ध था।

महाराज युधिष्ठिर को मात्र सिंहासन दिलाने के लिए यह सामूहिक वध अतीव मनःसंतापी था, अतएव व्यास जैसे मुनियों ने तथा स्वयं भगवान् कृष्ण ने इतिहासों के साक्ष्य से उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहा कि यह युद्ध न्यायसंगत था, क्योंकि इसका कारण न्यायसंगत था। लेकिन महाराज युधिष्ठिर संतुष्ट नहीं हुए, यद्यपि उस समय के महान पुरुषों ने उन्हें उपदेश दिया। यहाँ पर कृष्ण को अतिमानवीय कर्म करनेवाले कहे गए हैं, लेकिन इस मामले में न तो व्यास, न ही कृष्ण राजा युधिष्ठिर को सान्त्वना दे पाये। तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे अतिमानवीय कर्ता सिद्ध नहीं हो पाये? नहीं, ऐसा कतई नहीं है। इसकी विवेचना यह है कि भगवान् ने ईश्वर के रूप में राजा युधिष्ठिर तथा व्यास दोनों के ही हृदय में स्थित होकर, इससे भी अधिक अतिमानवीय कार्य किया, क्योंकि भगवान् की ऐसी इच्छा थी। राजा युधिष्ठिर के परमात्मा के रूप में उन्होंने राजा को व्यास तथा स्वयं एवं अन्यो के शब्दों से आश्वस्त नहीं होने दिया, क्योंकि वे चाहते थे कि राजा मरणासन्न भीष्मदेव से उपदेश ग्रहण करें, जो भगवान् के एक और महान भक्त थे। भगवान् चाहते थे कि अपने भौतिक अस्तित्व के अन्तिम समय में महान योद्धा भीष्मदेव उनका साक्षात् दर्शन करें और उस समय सिंहासनारूढ़ अपने पौत्रों राजा युधिष्ठिर इत्यादि को देखें और इस तरह वह शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त हों। भीष्मदेव पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध करने के कारण तनिक भी प्रसन्न न थे, क्योंकि सारे पाण्डव उनके पितृविहीन पौत्र ही तो थे। लेकिन क्षत्रिय लोग अत्यन्त कठोर होते हैं, अतएव उन्हें दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि दुर्योधन के द्वारा ही उनका भरण-पोषण हो रहा था। इसके अतिरिक्त भगवान् की यह इच्छा भी थी कि राजा युधिष्ठिर भीष्मदेव के वचनों से सान्त्वना पाएँ, जिससे दुनिया देख सके कि भीष्मदेव ज्ञान में सबसे, यहाँ तक कि भगवान् से भी बढ़कर थे।

आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् ।

प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

आह—कहा; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; धर्म-सुतः—धर्म (यमराज) के पुत्र; चिन्तयन्—सोचते हुए; सुहृदाम्—मित्रों के; वधम्—वध को; प्राकृतेन—भौतिक विचार से; आत्मना—अपने द्वारा; विप्राः—हे ब्राह्मणो; स्नेह—स्नेह; मोह—मोह; वशम्—के वशीभूत; गतः—गया हुआ।

धर्मपुत्र, राजा युधिष्ठिर, अपने मित्रों की मृत्यु से अभिभूत थे और सामान्य भौतिकतावादी मनुष्य की भाँति शोक-सन्तप्त थे। हे मुनियो, इस प्रकार स्नेह से मोहग्रस्त होकर वे बोले।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसी अपेक्षा नहीं थी कि महाराज युधिष्ठिर किसी सामान्य मनुष्य की भाँति शोक-संतप्त हो जाएँगे, लेकिन भगवान् की इच्छा ही कहें, वे सांसारिक स्नेह के कारण मोहग्रस्त हो गये(जिस प्रकार अर्जुन मोहग्रस्त हुआ लगता था)। जो मनुष्य समझता है, वह भलीभाँति जानता है कि जीव न तो शरीर है, न मन, अपितु जीवन की भौतिक अवधारणा से परे है। सामान्य मनुष्य हिंसा तथा अहिंसा को शरीर के सम्बन्ध में देखता है, लेकिन यह एक प्रकार का मोह है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वृत्ति के अनुसार कर्तव्य से बँधा हुआ है। क्षत्रिय को सही निमित्त के लिए विरोधी पक्ष की परवाह न करते हुए युद्ध करना होता है। इस प्रकार कर्तव्य-पालन करते हुए मनुष्य को शरीर के विनाश से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह शरीर जीवन्त आत्मा का बाहरी पहनावा मात्र है। यह सब महाराज युधिष्ठिर को ज्ञात था, लेकिन भगवान् की इच्छा से वे एक सामान्य मनुष्य जैसे बन गये, क्योंकि इस मोह के पीछे एक दूसरी बहुत बड़ी भावना थी कि राजा को भीष्म उसी प्रकार उपदेश दें, जिस प्रकार स्वयं भगवान् ने अर्जुन को उपदेश दिया था।

अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः ।

पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—जरा देखो तो; अज्ञानम्—अज्ञान; हृदि—हृदय में; रूढम्—स्थित; दुरात्मनः—पापी का; पारक्यस्य—अन्यों के लिए; एव—निश्चय ही; देहस्य—शरीर का; बह्व्यः—अनेकानेक; मे—मेरे द्वारा; अक्षौहिणीः—अक्षौहिणी सेनाएँ; हताः—मारी गईं।

राजा युधिष्ठिर ने कहा : हाय, मैं सबसे पापी मनुष्य हूँ! जरा मेरे हृदय को तो देखो, जो अज्ञान से पूर्ण है! यह शरीर, जो अन्ततः परोपकार के लिए होता है, उसने अनेकानेक अक्षौहिणी सेनाओं का वध करा दिया है।

तात्पर्य : २१,८७० रथों, २१,८७० हाथियों, १,०९,६५०, पैदल तथा ६५, ६०० घुड़सवार का व्यूह अक्षौहिणी कहलाता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कई अक्षौहिणी सेना मारी गई थी। महाराज युधिष्ठिर, संसार के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा राजा होने के कारण, इतनी भारी संख्या में जीवों के वध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं, क्योंकि यह युद्ध उन्हें ही सिंहासनारूढ़ कराने के लिए लड़ा गया था। यह शरीर आखिर परोपकार के लिए है। जब तक शरीर में प्राण रहता है, तब तक यह परोपकार के लिए होता है और मरने के बाद यही कुत्तों तथा शृगालों द्वारा या कीड़ों द्वारा खा लिया जाता है। वे खेदग्रस्त हुए कि इस नश्वर शरीर के लिए इतना बड़ा नर-संहार किया।

बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।

न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

बाल—लड़के; द्वि-ज—दो बार जन्म लेनेवाले; सुहृत्—शुभचिन्तक; मित्र—मित्र; पितृ—चाचा-ताऊ; भ्रातृ—भाई; गुरु—शिक्षक का; द्रुहः—मारनेवाला; न—कभी नहीं; मे—मेरा; स्यात्—होगा; निरयात्—नरक से; मोक्षः—मुक्ति; हि—निश्चय ही; अपि—यद्यपि; वर्ष—साल; अयुत—लाखों; आयुतैः—जोड़े जाने पर।

मैंने अनेक बालकों, ब्राह्मणों, शुभ-चिन्तकों, मित्रों, चाचा-ताऊओं, गुरुओं तथा भाइयों का वध किया है। भले ही मैं लाखों वर्षों तक जीवित रहूँ, लेकिन मैं इन सारे पापों के कारण मिलनेवाले नरक से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकूँगा।

तात्पर्य : जब भी युद्ध होता है, तब अनेक निर्दोष प्राणी—यथा बालक, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, जिनका वध सर्वाधिक पापपूर्ण माना गया है, वे भी मारे जाते हैं। ये सब निर्दोष प्राणी हैं और समस्त परिस्थितियों में इनका वध शास्त्रों द्वारा वर्जित है। महाराज युधिष्ठिर को इस सामूहिक संहार का पता था। इसी प्रकार दोनों ही दलों में मित्र, चाचा-ताऊ तथा शिक्षक थे और वे सभी मारे

गये। उनके लिए ऐसे नरसंहार का सोचना ही भयावह लगता था, अतएव वे लाखों-करोड़ों वर्षों तक नरक में पड़े रहने का विचार कर रहे थे।

नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।

इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एनः—पाप; राज्ञः—राजा का; प्रजा-भर्तुः—प्रजा के पालन में व्यस्त रहनेवाले; धर्म—सही निमित्त के लिए; युद्धे—युद्ध में; वधः—संहार; द्विषाम्—शत्रुओं का; इति—ये सब; मे—मेरे लिए; न—कभी नहीं; तु—लेकिन; बोधाय—संतोष के लिए; कल्पते—वे शासन चलाने के लिए हैं; शासनम्—आदेश; वचः—शब्दों का।

जो राजा अपनी प्रजा के पालन में लगा रह कर सही निमित्त के लिए वध करता है, उसे कोई पाप नहीं लगता। लेकिन यह आदेश मेरे ऊपर लागू नहीं होता।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि, यद्यपि वे वास्तव में राज्य का शासन नहीं चला रहे थे, क्योंकि दुर्योधन द्वारा नागरिकों का बिना किसी क्षति के शासन तो चलाया जा रहा था, फिर भी दुर्योधन के हाथों से राज्य छीनने हेतु अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उन्होंने इतने सारे जीवों का संहार कराया। यह संहार शासन चलाने के दौरान नहीं हुआ था, अपितु अपने को बड़ा बनाने के लिए हुआ था, अतएव उन्होंने इस पाप के लिए स्वयं को दोषी समझा।

स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः ।

कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

स्त्रीणाम्—स्त्रियों के; मत्—मेरे द्वारा; हत-बन्धूनाम्—मारे गये मित्रों का; द्रोहः—शत्रुता; यः—जो; असौ—ये सब; इह—यहाँ; उत्थितः—संचित हुई है; कर्मभिः—कार्य करने से; गृहमेधीयैः—भौतिक कल्याण में लगे मनुष्यों द्वारा; न—कभी नहीं; अहम्—मैं; कल्पः—आशा कर सकता हूँ; व्यपोहितुम्—उसे मिटा पाने की।

मैंने अनेक स्त्रियों के बंधुओं का वध किया है और इस तरह मैंने इस हद तक शत्रुता मोल ली है कि भौतिक कल्याण-कार्य के द्वारा इसे मिटा पाना सम्भव नहीं है।

तात्पर्य : गृहमेधी वे हैं, जिनका एकमात्र कार्य है भौतिक सम्पन्नता के लिए कल्याण-कार्य करना। कभी-कभी पापकर्मों के कारण ऐसे कल्याण-कार्य में बाधा पहुँचती है, क्योंकि भौतिक

कर्तव्यों को पूरा करते समय, न चाहते हुए भी, भौतिकतावादी से कहीं-न-कहीं पाप हो ही जाता है। ऐसे पापकर्मों से छुटकारा पाने के लिए वेदों में कई प्रकार के यज्ञों का विधान है। वेदों में तो यहाँ तक कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ करने से ब्रह्म-हत्या तक से छुटकारा मिल सकता है।

युधिष्ठिर महाराज ने यह अश्वमेध यज्ञ किया था, लेकिन वे सोचते हैं कि ऐसे यज्ञों के करने से भी, ऐसे घोर पापों से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। युद्ध में पति, भाई, पिता या पुत्र सभी लड़ने जाते हैं और जब वे मारे जाते हैं, तो फिर से नई शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है, जिसका शमन हजारों अश्वमेध यज्ञों से भी नहीं किया जा सकता।

कर्म का विधान ही ऐसा है। यह एक क्रिया और फिर उसके साथ ही साथ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। इस प्रकार भौतिक कार्य-कलापों की शृंखला बढ़ती जाती है और कर्ता को भवबन्धन में जकड़ती जाती है। *भगवद्गीता* (९.२७-२८) में इसका निवारण सुझाया गया है। कर्म के मार्ग में ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि प्रत्येक कर्म परमेश्वर के लिए किया जाय। वास्तव में, कुरुक्षेत्र का युद्ध भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा के कारण लड़ा गया था, जैसाकि उनके कथन से स्पष्ट है और उन्हीं की इच्छा से युधिष्ठिर हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे थे। अतएव पाण्डवों को किसी तरह का पाप छू भी नहीं पाया, क्योंकि वे भगवान् के आदेश-वाहक थे। अन्य लोग जो निजी स्वार्थ के लिए युद्ध छेड़ते हैं, उन पर ही सारा दोष आता है।

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।

भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्माष्टुमर्हति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; पङ्केन—कीचड़ से; पङ्क-अम्भः—कीचड़-मिश्रित जल; सुरया—मदिरा से; वा—अथवा; सुराकृतम्—मदिरा के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि; भूत-हत्याम्—पशुओं की हत्या; तथा—उसी प्रकार; एव—निश्चय ही; एकाम्—एक; न—कभी नहीं; यज्ञैः—यज्ञों के द्वारा; माष्टुम्—प्रायश्चित्त करना; अर्हति—सम्भव है।

जिस प्रकार गंदे पानी को कीचड़ में डालकर छाना नहीं जा सकता, अथवा जैसे मदिरा से मलिन हुए पात्र को मदिरा से स्वच्छ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नर-संहार का प्रायश्चित्त पशुओं की बलि देकर नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य : अश्वमेध-यज्ञ या गोमेध यज्ञ, जिनमें घोड़े या साँड़ की बलि दी जाती है, वास्तव में पशुओं के वध करने के लिए नहीं थे। भगवान् चैतन्य ने बतलाया है कि यज्ञ की वेदी पर बलि किये गये ऐसे पशुओं को पुनः जीवनदान दिया जाता था। यह वेदों के मंत्रों की क्षमता को सिद्ध करने के लिए किया जाता था। निश्चय ही वेदों के मन्त्रों का सही ढंग से पाठ करने पर यज्ञकर्ता पापों से मुक्त हो जाता है, लेकिन ऐसे यज्ञ यदि अनुपयुक्त विधि से अक्षम लोगों द्वारा किये जाते हैं, तो वे पशु-बलि के दोषी बनते हैं। कलह तथा दम्भ के इस युग में ठीक से यज्ञ सम्पन्न करवाना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले दक्ष ब्राह्मणों का अभाव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर कलियुग में यज्ञ सम्पन्न करने का संकेत देते हैं। कलियुग के लिए एकमात्र संस्तुत यज्ञ *हरिनाम यज्ञ* है, जिसका सूत्रपात भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया। लेकिन किसी को पशु-वध करने के बाद ऐसा *हरिनाम यज्ञ* सम्पन्न करके प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए। भगवान् के भक्त कभी भी स्वार्थवश पशुवध नहीं करते, लेकिन वे क्षत्रिय कर्म करने से कभी पीछे नहीं हटते, जैसा भगवान् ने अर्जुन को आदेश दिया था। अतएव जब प्रत्येक वस्तु भगवान् की इच्छा के लिए की जाती है, तो सारा काम बन जाता है। ऐसा करना भक्तों के लिए ही सम्भव है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के अन्तर्गत “कुन्ती द्वारा प्रार्थना तथा परीक्षित की रक्षा” नामक आठवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।